प्रकाशक

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना (बिहार)

सजिल्द १॥)]   उत्तम सं. २)   [मूल्य १।)

जून, १६४१

मुद्रक

हनुमानप्रसाद

विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय

विषय-सूची

बापू

भूमिका

साधु-चरित-चर्चा सर्वदा कल्याणकारी होती है और आत्मा को पावन पथ पर लाने में सहायक! स्वर्गीय दीनबन्धु एंड्रूज तो करुणा, दया और सरलता के अवतार थे। राष्ट्रीय और भौगोलिक सीमाओं से परे उनकी मानवता थी। गरीबों और दुखियों के कष्ट दूर करने में ही वे प्रभु की उच्चतम सेवा समझते थे। उच्च और शिक्षित अँगरेज़-परिवार में पले प्रतिभाशाली एंड्रूज साहब के लिये लेखक, वक्ता और अध्यापक बनकर ख्याति प्राप्त करना और अतुल धन कमाना साधारण-सी बात होती; पर प्रभु ईसा के सच्चे भक्त ने त्याग की कफनी डाल, मानव-सेवा की धूनी रमाई और भारतवर्ष की अनवरत सेवा करते हुए उन्होंने अपने पार्थिव शरीर को भी भारत-माता को अर्पण कर दिया।

श्रीप्रभुदयाल विद्यार्थी ने स्वर्गीय दीनबन्धु एंड्रूज के प्रति अर्पित की हुई श्रद्धाजलियों को एकत्र करके एक साहित्यिक मणि-माला तैयार कर दी है। इस माला का सुमेरु कौन है—यह कहना कठिन है, क्योंकि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गान्धी, श्रीमान् रामानन्द चट्टोपाध्याय, आचार्य क्षितिमोहन सेन आदि-जैसे साधु पुरुषों की श्रद्धांजलियाँ और संस्मरण इस माला में पिरोये गये हैं। इनमें से किसी को भी अपेक्षाकृत अच्छा कहना अनुचित होगा। इस संग्रह के भिन्न-भिन्न लेख सुरसरि के भिन्न-भिन्न घाटों के समान हैं, जहाँ पर ज्ञान और भक्ति का प्यासा अपनी प्यास बुझा सकता है।

स्वर्गीय दीनबन्धु एंड्रूज के विषय में भूमिका में कुछ अधिक लिखना पाठकों का समय नष्ट करना होगा; क्योंकि जिन बातों पर इन पंक्तियों का लेखक कुछ लिखेगा, वे सब इस संग्रह में भली भाँति वर्णित हैं। पर दो-एक बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना जरूरी है। भारतवर्ष स्वर्गीय दीनबन्धु का चिर ऋणी रहेगा और भारतवर्ष के इतिहास में एंड्रूज साहब का नाम अमर रहेगा और नहीं तो दो कारणों से—विश्व की विभूति महात्मा गान्धी के दो बार जीवन बचाने में एंड्रूज साहब का हाथ था, और जो व्यक्ति बापू के जीवन को बचा सकता है, उससे हम कैसे उऋण हो सकते हैं? दूसरे कुली-प्रथा को उठाने और प्रवासी भाइयों के संकट दूर करने में बापू के बाद स्वर्गीय दीनबन्धु का ही स्थान है।

इस संग्रह के बारे में हम केवल यही कहकर समाप्त करेंगे कि एंड्रूज की सरलता, साधुता और निष्ठा की चर्चा करके पाठक अपने जीवन को बहुत कुछ उन्नत बना सकेंगे, क्योंकि—

"साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जस पावा॥"

सेवाग्राम, वर्धा
४ मई, १९४१

—श्रीराम शर्मा

संग्रहकर्त्ता की ओर से--

भारतवासियों ने—अमीरों और गरीबों ने—दानशील एंड्रूज से लिया बहुत है; लेकिन सवाल है कि हमने उन्हें क्या दिया? भारतभक्त तथा विश्व की विभूति साधु एंड्रूज के लिये हमसे जो बन पड़े, सो थोड़ा ही होगा। उनके सामने धनी और गरीब, ईसाई और गैर ईसाई, अँगरेज तथा अन्य जातियों के बीच कोई अन्तर नहीं था। वे विना किसी हिचकिचाहट के सबकी सहायता करते थे। वे दिन-रात मानवता के हित के लिये खटते रहते थे। दीनबन्धु के जीवन का मुख्य उद्देश्य था भारत और ब्रिटेन में सुतरां पूर्व और पश्चिम में सद्भावना और सहानुभूति की भावना स्थापित करना।

एंड्रूज साहब वर्ण-भेद से एकदम मुक्त अँगरेज थे। भारतवर्ष में उनके जैसा कोई अँगरेज नहीं आया। वे वास्तव में भारत और भारतीयों को हृदय से प्रेम करते थे, और सही मानी में उन्होंने भारत के लिये ही अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। किसी प्रकार की प्रतिहिंसा या प्रतिशोध की भावना तो कभी उनके मस्तिष्क में उठती ही नहीं थी। यही कारण था कि पूर्वीय और दक्षिणीय अफ्रिका के कई अँगरेज भी, जो उनके विचारों से सहमत नहीं थे, उन्हें आदर और प्रेम की दृष्टि से देखते थे।

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्राइवेट सेक्रेटरी श्रीसुधाकान्त राय चौधरी एक जगह लिखते हैं—"आश्रम के एक टूटे-फूटे घर में लड़कों के

साथ एंड्रूज साहब रहने लगे। सवेरे से संध्या तक घंटे की आवाज के साथ ताल मिलाकर जिन नियम-कानूनों को मानकर चलना पड़ता, उन्हें पालन करने की प्राणपण से चेष्टा करते। अनभ्यस्त काम-काज करके सभी विषयों में एक हो जायँ, यही सदा उनकी इच्छा रहती थी।"

यह बात उस समय की है जब एंड्रूज साहब शान्ति-निकेतन में पहले-पहल दाखिल हुए थे। हमलोग आजकल जहाँ कड़े नियम देखते हैं कुछ घबरा-से जाते हैं और चौकन्ना हो जाते हैं। उन नियमों का मुकाबला किस तरह किया जाय इसको भूलकर टीका-टिप्पणी करने लग जाते हैं। लेकिन नहीं, एंड्रूज साहब के जीवन से हमें कुछ और शिक्षा मिलती है। वह है—सवेरे से संध्या तक घंटे की आवाज के साथ ताल मिलाकर नियम-कानूनों को मानकर काम करना।

सुधाकान्त रायजी आगे और लिखते हैं। दीनबन्धु के जीवन को थोड़े से शब्दों में बड़ी खूबी के साथ पाठकों के सामने उनकी विशेषताओं के साथ रख देते हैं। पाठकों को उन्हीं के शब्दों में पढ़ना चाहिये—"एंड्रूज साहब संन्यासी थे, साथ ही दाता भी। सिर्फ सेवा-द्वारा ही वे किसी को संतुष्ट न करते थे, बल्कि जरूरतमंदों की दिन-रात रुपये-पैसे से भी सहायता करते थे। उनके इस गुप्तदान की बात उनके थोड़े से विश्वस्त आदमियों को छोड़कर और कोई नहीं जानता। जो आदमी दानग्रहण करता है, यदि वह भद्र पुरुष है, तो स्वभावतया उसके मन में ग्लानि की भावना जागृति होगी।

दूसरी किस्म का दान लेने पर मनुष्य के मन में ग्लानि की भावना नहीं उठती। मगर रुपये-पैसे की सहायता यदि वह अपने स्वार्थ के लिये ली गई हो, तो आत्म-सम्मानी व्यक्तियों के मन में वेदना पहुँचाती है। निरुपाय अवस्था में अनेक लोग इस मर्मान्तिक वेदना को हँसकर दबाने की कोशिश करते हैं। एंड्रूज साहब मनुष्य की इस वेदना के प्रति बहुत सचेत थे, इसलिये दान कहकर उन्होंने दान लेनेवालों का कभी अपमान नहीं किया और साथ ही अपने को भी दाता होने के गर्व से दूर रक्खा। जिस दिन वे किसी को गुप्त रूप से दान देते उसी दिन किसी खास जरूरत से वे किसी मित्र से रुपये भी माँगते। कभी उस भिक्षा की रकम आठ आना होती और कभी तीस-चालीस रुपये। इस प्रकार लेने-देने के कारोबार में उन्होंने लेने की अपेक्षा दिया ही अधिक। अक्सर लोग कहा करते हैं—'अमुक व्यक्ति की मैंने कितनी ही बार सहायता की है, पर उसके बदले में मेरे प्रति अकृतज्ञता ही प्रदर्शित की।' मगर इस प्रकार का क्षोभ करते हुए मैंने एंड्रूज साहब को कभी नहीं सुना।

'काम करने के सम्बन्ध में एंड्रूज साहब में असाधारण तत्परता थी। वे छोटे-से-छोटे काम को भी बहुत जरूरी समझते थे। बात-की-बात में तार देना तो जैसे उनकी आदत थी। नौकर नहीं है तो आप खुद कड़कती धूप में नंगे पाँवों भागे चले जा रहे हैं पोस्टआफिस तार देने के लिये और उस तार में लिखा होता—'पत्र जा रहा है' (letter follows)। वहाँ से आकर पत्र लिखते और उसी दुपहरी में उसे लेटर-बक्स में छोड़ने जाते। उनकी इसी प्रकृति

के कारण हमलोगों को लिये यह जानना कठिन था कि उनका कौन काम आवश्यक है और कौन अनावश्यक।

"एंड्रूज साहब में असाधारण सौजन्य था। उन्हें जो भी खाने के लिये निमंत्रित करता, चाहे वह गरीब हो—उसके घर की हालत बहुत ही खराब हो और जिस खाने को खाने से उनका स्वास्थ्य भी खराब हो जाता, उसे भी वे प्रसन्नचित्त हो खाते। मनुष्य भाग्यचक्र के कारण कितना ही हीन क्यों न हो गया हो, पर है वह मनुष्य ही—इस सत्य को एंड्रूज साहब ने पूर्ण रूप से हृदयंगम किया था। इस चीज को बहुत लोग हृदयंगम करते हैं, पर जीवन के कार्य-व्यवहार में मनुष्य के साथ मनुष्य-जैसा व्यवहार करने की क्षमता बहुत कम लोगों में होती है, और एंड्रूज साहब में यह क्षमता पूरी मात्रा में थी।"

श्रीसुधाकान्तजी ने बड़ी खूबी के साथ एंड्रूज साहब के जीवन-'स्केच' को हमारे सामने रक्खा है। हमारे लिये उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना बेकार-सा साबित होगा और होगा पाठकों का समय बरबाद करना। लेकिन फिर भी मैं कुँवर सर महाराज सिंह की भी कुछ बातें पाठकों से पढ़ लेने की प्रार्थना तो करूँगा ही—"मेरा अनुमान है कि एंड्रूज को उनकी पुस्तकों से काफी पैसा मिला होगा; पर अपने आपपर उन्होंने बहुत कम खर्च किया। पोशाक के मामले में बड़े लापरवा थे। कपड़े भी बहुत थोड़े—जरूरत भर के—ही रखते थे। उद्भ्रान्त-चित्त रहना तो उनका स्वभाव-सा हो गया था और कोई भी नहीं कह सकता कि किससे ली हुई चीज किसे दे देंगे या

कि स मेहमान के यहाँ अपनी कितनी चीजें भूल जायँगे। उनकी बाल-सुलभ सरलता और सहृदयता इतनी अधिक विख्यात हो चली थी कि प्रायः अपने आपको जरूरतमंद बतलानेवाले उन्हें घेरे रहते थे। किन्तु इन सबके बावजूद भारत और इंगलैंड दोनों में ही उनका प्रभाव स्वल्प नहीं था। इसलिये मेरा विचार है कि उनकी मृत्यु से जो स्थान रिक्त हुआ है, उसकी पूर्ति होना कठिन है। पर भारत के असंख्य लोग उन्हें एक ऐसे सुसंस्कृत, विशाल हृदय और उच्चाशय अँगरेज के रूप में चिर स्मरण करेंगे, जो भारत का भक्त और मित्र था।"

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय के प्रोप्राइटर श्रीरामलोचनशरणजी को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने बड़ी प्रसन्नता से बिना किसी लाभ के प्रेरित होकर पुस्तक-प्रकाशन का भार अपने जिम्मे लिया। इस पुस्तक का मूल्य आँकना हमारे लिये कहाँ तक ठीक होगा, मैं नहीं जानता। यदि पाठकों ने इसे अपनाकर मेरे उत्साह को बढ़ाया तो मैं अगला संस्करण और बढ़िया निकलवाने की कोशिश करूँगा। मैं इस पुस्तक को जैसा प्रकाशित कराना चाहता था, इस महँगी के जमाने में असम्भव था।

मैं श्रीउपेन्द्रनाथजी महारथी का बहुत कृतज्ञ हूँ जिन्होंने परिश्रम पूर्वक मेरी पुस्तक का कवर सेवा-भाव से तैयार किया है। इतने सुदर टाइटिल पेज बनाने के लिये मैं उनका आभारी हूँ।

आजकल देखा जा रहा है कि कितनी ही निकम्मी किताबें आये दिन प्रकाशित की जा रही हैं जिससे जनता का शायद ही कुछ लाभ

होता हो। कितने ही रद्दी कहानियों और कविताओं के संग्रह निकलते जा रहे हैं, परन्तु देश की उन्नति किस चीज में है और नवयुवकों को कहाँ किस चीज से जीवन में परिवर्त्तन करने की प्रेरणा मिलेगी, इसका खयाल नहीं किया जा रहा है। इस संग्रह में इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि यदि पाठक इस पुस्तक का एक ही लेख पढ़ ले तो उसे भी कुछ लाभ हो। इसका अनुभव तो पाठक स्वयं पढ़कर करें। ग्राम-सेवकों, नवयुवकों, स्कूल तथा कालेज के छात्रों और राष्ट्र-सेवकों के लिये यह पुस्तक गाइड बुक (Guide Book) ही साबित होगी।

मैं 'विशाल भारत' के सम्पादक श्रद्धेय पंडित श्रीरामजी शर्मा का हृदय से कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने पुस्तक की भूमिका लिखी और 'विशाल भारत' के कुछ लेखों का संग्रह करने की आज्ञा प्रदान की। जिन लेखकों ने मुझे इस पुस्तक में अपने लेखों को संग्रह करने की आज्ञा प्रदान की है, मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ। 'विशाल भारत' के सौजन्य से मुझे कई चित्र मिले हैं उसके लिये मैं कृतज्ञ हूँ। दीनबन्धु सच्चे अर्थों में साधु थे। इसलिये इस पुस्तक से जो आमदनी होगी वह सब उनके स्मारक-फंड में भेज दी जायगी।

सेवाग्राम आश्रम, वर्धा
२ मई, १९४१

विनीत
प्रभुदयाल विद्यार्थी

दीनबन्धु एण्ड्रूज

[विश्वभारती के सौजन्य से

दीनबन्धु की स्मृति में

दीनबन्धु एंड्रूज

हमलोगों के प्रियतम बन्धु चार्ल्स एंडरूज की गतप्राण देह ने इस मुहूर्त्त में सर्वग्रासी मिट्टी के बीच आश्रय लिया है। मृत्यु में सत्ता का चरम अवसान नहीं, यही बात कहकर शोक के दिनों में हमलोग धैर्य-धारण करने की चेष्टा करते हैं; परन्तु सान्त्वना नहीं पाते। परस्पर के देखने-सुनने और नाना प्रकार के आदान-प्रदान से दिनोंदिन प्रेम का अमृत-पात्र पूर्ण हो उठता है। हम-लोगों का देहाश्रित मन इन्द्रिय-बोध के पथ से मिलने के लिये अपेक्षा करने का आदी हो गया है। हठात् जब मृत्यु उस पथ को एकदम बन्द कर देती है, तब यह विच्छेद असहनीय हो उठता है। दीर्घकाल तक मैंने एंड्रूज को अनेक भावों में देखा है। आज से किसी भी दिन फिर वही प्रीति-स्निग्ध साक्षात् मिलन सम्भव न होगा, यह बात मान ही लेनी पड़ेगी; मगर किसी-न-किसी रूप में उसकी क्षति-पूर्त्ति का आश्वासन पाने के लिये मन व्याकुल हो उठता है।

जिस व्यक्ति के साथ हमलोगों का स्वार्थ का सम्बन्ध

होता है, उससे जब वियोग होता है, तब अवशेष कुछ नहीं रह जाता। उस समय सहयोगिता के अवसान को अपनी चरम क्षति समझकर सहज ही स्वीकार कर लेना पड़ता है। इस प्रकार सांसारिक आदान-प्रदान का सुयोग उपस्थित करना मृत्यु के ही अधीन है। किन्तु सभी सम्बन्धों से परे प्रेम का सम्बन्ध असीम रहस्यमय है, दैहिक सत्ता में वह अँट नहीं सकता। एंड्रूज के साथ मेरा वही अयाचित दुर्लभ आत्मिक सम्बन्ध था। यह विधाता के अमूल्य वरदान के समान ही था। यह कैसे हुआ, साधारणतः इसकी सम्भावना का कारण खोजने पर नहीं पाया जा सकता। एक दिन सम्पूर्ण अपरिचय के भीतर से इसी ईसाई साधु का भगवद्भक्ति के निर्मल उत्स से उत्सारित बन्धुत्व मेरी ओर पूर्ण वेग से प्रवाहित होकर आया था, उसमें न स्वार्थ की भावना थी और न थी प्रसिद्धि की दुराशा, था केवल सर्वतोमुखी आत्म-निवेदन। उस समय केनोपनिषद् का यह प्रश्न अपने-आप मेरे मन में जाग उठा था—केनेषितं प्रेषितं मनः, अर्थात् यह मन किसके द्वारा मेरी ओर प्रेरित हुआ है और इसके रहस्य का मूल कहाँ है? मेरी समझ में इसका मूल था उनकी असाम्प्रादायिक, अकृत्रिम ईश्वरभक्ति में। इसीलिये यहाँ मैं आरम्भ की बातों पर ही कुछ कहना चाहता हूँ।

उन दिनों मै लन्दन में था। कला-विशारद रॉटेनस्टाइन के घर पर उस दिन कई ॲगरेज साहित्यिक आमंत्रित किये गये थे। कवि यीट्स ने मेरी गीतांजलि के ॲगरेजी अनुवाद से कई कविताएँ उन्हे सुनाई थीं। श्रोताओं में ही कहीं एक कोने में थे एंड्रूज। कविता-पाठ समाप्त होने पर मैं अपने डेरे पर लौट रहा था। नजदीक ही वह डेरा था। हैम्पस्टेड हीथ का ढालू मैदान धीरे-धीरे चलकर मैं पार कर रहा था। वह रात ज्योत्स्ना से प्लावित थी। एंड्रूज भी मेरे साथ हो लिये थे। निस्तब्ध रात में उनका मन गीतांजलि के भावों से भरा हुआ था। ईश्वर के प्रेम-पथ पर जानेवाला उनका मन मेरे प्रति प्रेम के रूप मे आगे बढ़ आया था। मिलन की यह धारा आगे चलकर मेरे जीवन के साथ एक होकर नाना गंभीर वार्तालापों में और कर्म की नाना सहयोगिताओ में उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक प्रसारित होकर चलेगी, यह बात उस दिन मैं मन में भी न ला सका था।

कुछ समय बाद वे शान्तिनिकेतन के कामो में सहयोग देने लगे। उस समय हमारे इस दरिद्र विद्यायतन का बाह्यरूप अत्यन्त साधारण था और इसकी ख्याति भी कम ही थी। किन्तु इसकी सारी बाहरी दरिद्रता के बावजूद उन्होंने इसकी तपस्या में विश्वास किया था और इसे अपनी तपस्या के अंतर्गत

कहकर स्वीकार किया था। 'जिसे आँखो से नही देखा जाता, उसे उनकी प्रेम-दृष्टि ने देखा था। मेरे प्रति जो उनका प्रेम था, उसके साथ-साथ उन्होंने मन-प्राण देकर शान्तिनिकेतन को भी प्यार किया था। सबल चरित्र का गुण यही है कि वह केवल भावावेश के उच्छ्वास द्वारा अपने को खत्म नहीं कर डालता, बल्कि अपने को दुःसाध्य त्याग-द्वारा सार्थक करता है। उन्होने कभी अर्थ-संचय नहीं किया, वे थे अकिंचन। किन्तु कई बार इस आश्रम के अभाव को देखकर न जाने कहाँ से लाकर उन्होंने इसे यथेष्ट धन दिया था, उसे मैं जान भी न पाया था। दूसरों से कई बार उन्होंने भिक्षा माँगी थी और कभी-कभी तो उन्होंने कुछ भी नहीं पाया था। किन्तु उसी भिक्षा के उपलक्ष्य में निःसंकोच भाव से उन्होंने जिसे खर्व किया था, वह संसार के आदर्श मे आत्म-सम्मान कहा जाता है। निरन्तर दरिद्रता के भीतर से ही शान्तिनिकेतन अपनी आन्तिरिक चरितार्थता के प्रकाश की साधना में लगा हुआ था। इसीसे जान पड़ता है कि इसने उनके हृदय को इतना अधिक आकर्षित किया था।

मेरे साथ एंड्रूज का जो प्रेम-सम्बन्ध था, यही बात अब तक मैंने कही है। किन्तु सबसे आश्चर्य का विषय था भारतवर्ष के प्रति उनका एकनिष्ठ प्रेम। उनकी इस निष्ठा को देश के लोगों ने अकुण्ठित मन से ग्रहण कर लिया था; किन्तु उसका सम्पूर्ण

मूल्य भी क्या वे आँक सके थे ? वे अँगरेज थे, केम्ब्रिज-विश्व-विद्यालय के डिग्रीधारी। क्या भाषा में, क्या आचार में, क्या संस्कृति मे, सभी तरह से उनका सम्बन्ध जन्म से ही इंगलैंड के साथ अभिन्न था। उनकी आत्मीय मंडली का केन्द्र भी वहीं था। जिस भारतवर्ष को उन्होंने अपने चिर-परिचित एकान्त आत्मीय के रूप मे स्वीकार कर लिया था, उसके समाज-व्यवहार का क्षेत्र उनके तन-मन के अभ्यासों से बहुत दूर था। इस एकान्त निर्वासन की पृष्ठभूमि से ही उन्होंने अपने विशुद्ध प्रेम का माहात्म्य प्रकट किया था। इस देश में आकर निर्लिप्त सतर्कता से उन्होंने दूर से ही भारतवर्ष को अपना प्रसाद वितरण नहीं किया, बल्कि निःसंकोच भाव से यहाँ के सर्व-साधारण के साथ सविनय सहयोग की रक्षा की थी। जो दीन है, अवज्ञा-भाजन हैं, जिनकी जीवन-यात्रा उनके आदर्श से मलिन और श्रीहीन है, उन्होंने सहज आत्मीयता से विभिन्न अवसरों पर अनायास ही उनका सहवास ग्रहण किया था। इस देश के जो शासक हैं, उन्होंने एंडरूज के इस आचरण को देखा, उससे वे अपनी राजसत्ता का असम्मान अनुभव करके उनसे क्रुद्ध हुए थे, उनसे घृणा की थी, फिर भी अपनी जाति की इस अश्रद्धा पर उन्होंने नजर तक नहीं डाली। उनके जो आराध्य देवता थे, उनको वे जनसमाज के अभाजनों के

बन्धु के रूप मे जानते थे, उन्हींसे उन्होंने आन्तरिक हृदय से श्रद्धा की प्रार्थना की थी। भारतवर्ष में क्या दूसरों के, क्या हम-लोगो के निकट जहाँ कहीं भी मनुष्य के प्रति अवज्ञा अवतरित होती, वहीं सारी बाधाओं का अतिक्रम करके उन्होने अपनी ईसा की भक्ति को विजयी बनाया था। इस प्रसंग मे यह बात कहनी होगी कि कितनी ही बार हमारे देश के लोगों द्वारा उन्हें विरुद्धता तथा संदिग्ध व्यवहार मिला था। इस अन्याय और आघात को अम्लान चित्त से ग्रहण करना भी उनकी पूजा का ही एक अंग था।

जिस समय एंड्रूज ने भारतवर्ष को अपने आमृत्युकाल के कर्मक्षेत्र के रूप में स्वीकार कर लिया था, उसी समय इस देश में राष्ट्रीय उत्तेजना व संघात प्रबल रूप से जाग उठा था। ऐसी अवस्था मे इस देश के अधिवासियों के बीच अपने सौहृद्य की रक्षा करते हुए खड़ा रहना एक अँगरेज के लिये कितना दुःसाध्य था, इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। किन्तु मैंने देखा है, वे बड़ी आसानी से अपने स्थान पर ही खड़े थे, उनमें कोई द्विधा-द्वन्द्व न था। यह जो अविचलित चित्त से कठिन परीक्षा के अवसर पर भी जीवन के लक्ष्य को स्थिर रखना है, इसीसे उनकी आत्मिक शक्ति का प्रमाण मिलता है।

जिन एंड्रूज को मैं जानता हूँ, उनका दो तरह से परिचय पाने का सुयोग मुझे मिला था। एक तो मेरे अत्यन्त निकट, मेरे

गुरुदेव

प्रति उनका सुगंभीर प्रेम। इस प्रकार के अकृत्रिम अपर्याप्त प्रेम को मैं अपने जीवन के श्रेष्ठ सौभाग्यों में से गिनता हूँ। और, देखा है दिनोंदिन विभिन्न अवसरो पर भारतवर्ष के निकट उनका असामान्य आत्मोत्सर्ग। देखी है इस देश के अन्त्यजों के प्रति उनकी अशेष करुणा। उनलोगों के किसी दुःख और असम्मान ने जब कभी भी उनका आह्वान किया है, तभी वे अपनी असुविधा और अस्वास्थ्य का खयाल न करके, अपने सारे कामों को छोड़कर, दौड़े हुए उनके बीच पहुँचे हैं। इसीलिये उनको स्थिर भाव से हमलोगों के किसी निर्दिष्ट काम में बाँध रखना असम्भव था।

यह जो उनका प्रेम था, वह संकीर्ण भाव से भारतवर्ष की ही सीमा पर था, यह कहना भूल होगा। उनके ईसाई धर्म में सर्वमानव के प्रति प्रेम का जो अनुशासन है, भारतीयों के प्रति उनका प्रेम उसीका एक अंश था। एक बार मैंने उसी का प्रमाण पाया था, जब दक्षिण-अफ्रिका के काफ्री अधिवासियों के सम्बन्ध में उनकी उत्कंठा देखी थी, उस समय वहाँ के भारतीयों ने काफ्रियों को अपने से अलग करके, हेय करके, देखने की चेष्टा की थी, और यूरोपियनों के समान ही काफ्रियों से बढ़कर अपने उच्चाधिकार की कामना की थी। एंड्रूज इस अन्याय और भेद-बुद्धि को सहन न कर सके थे। इन्हीं सब कारणों से एक दिन एंड्रूज को वहाँ के भारतीय शत्रु समझने लगे थे।

आज के दिनों मे जब अतिहिंस्र स्वाजात्यबोध असंयत औद्धत्य से उद्यत होकर रक्त-प्लावन से मानव-समाज की सारी भद्रता की सीमा को विलुप्त किये दे रही है, उस युग का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश सर्वमानविकता है। कठिन विरुद्धता में से ही आती है युगविधाता की प्रेरणा। वह प्रेरणा ही एंड्रूज के रूप में मूर्तिमती हुई थी। हमलोगो के साथ अँगरेजो का जो सम्बन्ध है, वह उनलोगों के स्वाजात्य और साम्राज्य के अति कठिन और जटिल बन्धन का है। उसी जाल की कृत्रिमता के भीतर से मनुष्य-अँगरेज अपना औदार्य लेकर हमलोगों के पास आने में पद-पद पर बाधा पाता है, हमलोगों से अहंकृत दूरी की रक्षा करना उसकी साम्राज्य-रक्षा के आडम्बर के आनुषंगिक रूप में उत्तुंग हो रहा है। सारे देश को इस अमर्यादा का दुःसह भार वहन करना पड़ रहा है। उन्हीं अँगरेजों में से एंड्रूज अँगरेज का मनुष्यत्व वहन कर लाये थे। वे हमलोगों के सुख में, दुःख में, उत्सव में, व्यसन में वास करने आये थे—इस पराजय-लांछित जाति के अन्तरंग रूप में। इसके बीच उच्च मंत्र से अभागों पर अनुग्रह करने की आत्मश्लाघा का लेशमात्र भी न था। इससे अनुभव किया है उनकी स्वाभाविक अति दुर्लभ सर्वमानविकता को। हमलोगों के देश के कवि ने एक दिन कहा था—

सबके ऊपर मनुष्य सत्य है
उसके ऊपर कोई नहीं

जरूरत पड़ने पर इस कवि-वचन का हम उच्चारण करते हैं। किन्तु हम इस सत्य वाक्य की अवज्ञा करने के लिये धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक सम्मार्जनी का जिस प्रकार व्यवहार करते हैं, ऐसा और कोई जाति करती है या नहीं, इसमें सन्देह है। इसीलिये विद्रूप सहन करके भी, मुझे कहना पड़ता है, मैंने शान्तिनिकेतन मे विश्वमानव की आमंत्रणस्थली स्थापित की है। यहाँ मैंने समुद्र-पार से आये हुए सत्य-मनुष्य को पाया है। मानव का सम्मान करने के लिये वे इस आश्रम को समस्त हृदय से सहयोग दे सके थे। यह हमलोगों के लिये परम लाभ था और यह लाभ अब भी अक्षय होकर रहेगा। राजनीतिक उत्तेजना के क्षेत्र में अनेक बार अनेक स्थानों पर उन्होंने अपनी कर्मशक्ति लगाई थी, कभी-कभी अपनी आलोड़ना द्वारा हमलोगों के आश्रम के शान्त वायुमंडल को आविल (मैला) किया था; किन्तु उसकी व्यर्थता समझते उन्हे देर न लगी थी, और उन्होंने राष्ट्रीय मादकता के आक्रमण से अन्त तक आश्रम को विपर्यस्त नहीं होने दिया था। उनके जीवन का जो केवल श्रेष्ठ दान था, उसे ही वे हमलोगों के लिये और सारे मानवों के लिये मृत्यु को अतिक्रम करके रख गये हैं—उनकी मृत देह के धूलिसात् होने के मुहूर्त में यह बात मैं आश्रम-वासियों के निकट गंभीर श्रद्धा से कह गया हूँ।

उत्तरायण, शान्तिनिकेतन] —श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

दीनबन्धु चार्ल्स फ्रीयर एंड्रूज

श्रीचार्ल्स फ्रीयर एंड्रूज इंगलैंड के केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के एम्० ए० और वहीं के पेम्ब्रोक-कालेज के फेलो थे। वे युवावस्था मे ही ईसाई धर्म-प्रचारार्थ संन्यास-व्रत ग्रहण करके दिल्ली के सेंट स्टीफेन्स कालेज के अध्यापक नियुक्त होकर आये थे। उस समय वे अन्यान्य पादरियों की तरह 'रेवरेंड' उपाधि से भूषित थे। बाद को उन्होंने उस उपाधि को त्याग दिया। ऐसा करने पर भी उनके चरित्र और जीवन के द्वारा सच्चे ईसाई आदर्श का जैसा प्रचार हुआ है, बहुत कम पाद-रियो अथवा साधारण ईसाइयो द्वारा वैसा होना सम्भव है। किसीने ठीक ही कहा है कि उनके नाम के तीन प्रारम्भिक अक्षर 'सी', 'एफ' और 'ए' 'Christ's Faithful Apos-tale' (ईसा के विश्वासी संदेश-वाहक) के ही तीन प्रथम अक्षर हैं। कारण, श्रद्धालु ईसाई और ग़ैर-ईसाई ईसा के जीवन और चरित्र को जिस आदर्श का मानते हैं, श्रीयुत एंड्रूज मृत्यु-पर्यन्त उसी आदर्श के अनुसार चलने की चेष्टा करते रहे।

उसी आदर्श का एक अंश है अपमानित, उपेक्षित, निर्या-

तित, दीनहीन लोगों की सहायता करना। इस हिसाब से श्रीयुत एंड्रूज सब मनुष्यों के बन्धु थे। इसलिये उन्हें जो 'दीनबन्धु' का नाम दिया गया था, वह सार्थक था।

दक्षिण-अफ्रिका, फिजी और अन्यान्य उपनिवेशों में दुर्गत भारतीयो के लिये उन्होंने बड़ा परिश्रम किया था और बहुत दुःख एवं लांछनाएँ भोगी थीं। इन सब स्थानों में भारतीयों की अवस्था में यदि कुछ उन्नति हुई है, तो उसके श्रेय का बहुत अंश इन्हीं सार्थकनामा दीनबन्धु को प्राप्त है। ब्रिटिश-गायना से जितने भारतीय श्रमिक भारतवर्ष में रहने की जगह और सुख-शान्ति पाने की आशा से लौट आये थे और निराश होकर मटियाबुर्ज में पड़े हुए अपने दुःखमय दिन काट रहे थे, उनका समाचार तक बहुत कम भारतवासियों को ज्ञात है; परन्तु दीनबन्धु एंड्रूज ने उनलोगों के लिये बड़ा परिश्रम किया और बड़े लाट तथा उनकी कौंसिल के सदस्यों तक दौड़-धूप की।

बिहार के चम्पारण जिले की नील-कर-पीड़ित प्रजा की भी उन्होंने बहुत सहायता की थी। भूकम्प-विध्वस्त बिहार के तो वे कर्मिष्ठ बन्धु ही थे। अनेक बार बाढ़ और दुर्भिक्ष-पीड़ित उड़ीसा का स्थायी रूप से दुःख दूर करने की भी उन्होंने चेष्टा की थी। उत्तरी बंगाल की अविस्मरणीय बाढ़ के समय भी वे बाढ़-पीड़ितों के बन्धु के रूप मे देखे गये थे। यहाँ मैं उनका

जीवन-चरित्र नहीं लिख रहा हूँ, अतएव उन्होंने कहाँ-कहाँ क्या-क्या किया था, उसका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। व्यक्तिगत रूप से उन्होंने जिन कितने ही लोगों का उपकार किया था, उसका भी कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

वे एहसान या बड़प्पन के रूप में कुछ भी नहीं करते थे। जो कुछ भी वे करते थे, कहीं भाई के रूप में और कहीं सेवक के रूप में। प्रभु-जाति सुलभ बड़प्पन के भाव से वे सदा बचने की चेष्टा करते थे। वे जो कुछ भी करते थे, वह श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर अथवा गांधीजी के आदेश या परामर्श से करते थे, और यही जताने की वे यथासम्भव चेष्टा भी करते थे। सत्कार्यों का श्रेय स्वयं लेना उन्हें अभीष्ट न था।

यह सभी जानते हैं कि श्री रवीन्द्रनाथ और गांधीजी में किन-किन प्रधान विषयों में भी मतभेद है। परन्तु ऐसा होने पर भी दीनबन्धु एंड्रूज की दोनों के साथ घनिष्ठता थी। श्री रवीन्द्रनाथ थे उनके 'गुरुदेव' और गांधीजी थे 'मोहन'। उनके हृदय और मन की जिस उदारता और विशालता ने उन्हें इन दोनो महापुरुषों के प्रति श्रद्धा-भक्ति अर्पित करने में समर्थ बनाया था, उसी के प्रभाव से वे सभी धर्म-सम्प्रदायो के बहुतेरे लोगों का बन्धुत्व प्राप्त करने में और उनके साथ बन्धु-भाव स्थापित करने में भी समर्थ हुए थे।

"वे (श्रीरामानन्द चट्टोपाध्याय) मेरे बड़े भाई के तुल्य हैं ।"

—एंड्रूज

आजकल चलते-फिरते परिचित लोगों को भी अक्सर बन्धु कह दिया जाता है। दीनबन्धु एंड्रूज ने अपने अन्तिम वक्तव्य में जो यह कहा था कि भगवान् की कृपा से मुझे अनेक बन्धु-लाभ करने का सौभाग्य प्राप्त है, वही बन्धुत्व प्रकृत बन्धुत्व है। यह सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था अपने हृदय के अगाध प्रेम के अक्षय भंडार के कारण। प्रेम-प्रदान करने में वे कभी कृपणता नहीं करते थे। वे जिसे अपना बन्धु मान लेते थे, वह यदि उनकी उपेक्षा भी करे, उनसे उदासीन भी हो जाय अथवा उन्हें कठोर आघात ही क्यों न पहुँचाय, फिर भी उनका प्रेम उससे विमुख या भिन्नमुख नहीं होता था। यह मैं वेदनामिश्रित प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कह सकता हूँ। इस विषय में उनकी महानुभावता और सदाशयता असाधारण थी।

अपने से उम्र में बड़ों के प्रति उनकी भक्ति और स्नेह असाधारण थे। महामति द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर को वे 'बड़े दादा' कहते थे। श्री द्विजेन्द्रनाथ के जीवन-काल में जब श्री एंड्रूज शान्तिनिकेतन में रहते, प्रत्येक दिन बड़े दादा के दर्शन करने जाते, प्रणाम कर उनकी पद-धूलि लेते और उन्हीं के साथ चाय पीते थे। बड़े दादा के प्रति उनकी भक्ति और स्नेह का, स्थानाभाव के कारण, केवल एक उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं।

एक दिन एंड्रूज के साथ मैं भी द्विजेन्द्रनाथ को प्रणाम

करने गया था। उस दिन न मालूम किस कारण बड़े दादा ईसाई पादरियों पर नाराज हो रहे थे। हम दोनों के प्रणाम करने के बाद उन्होंने बड़े उत्तेजित स्वर में पादरियो को हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र-सम्बन्धी अवज्ञा-विषयक कई बातें सुनाई—वे शायद यह भूल गये थे कि श्री एंड्रूज एक समय कार्य-रूप से और नाम से भी पादरी रह चुके थे और उस समय भी वस्तुतः पादरी ही थे। बाद में बड़े दादा शान्त हो गये। जब हमलोग लौटने लगे, तब रास्ते में कई तरह की बातों के दौरान में एंड्रूज ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'We had a very interesting talk from Bara Dada this evening' (अर्थात्—आज शाम को हमलोगों की बड़े दादा से बड़ी दिलचस्प बातें हुईं !)

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति श्री एंड्रूज की भक्ति और प्रीति की प्रगाढ़ता, प्राबल्य और अचंचल स्थैर्य को कई लोगों ने देखा है। उनकी अपेक्षा कोई व्यक्ति गुरुदेव का प्रियतर और निकटतर हो सकता है, इस सम्भावना के विचार तक को भी जैसे वे सहन नहीं कर सकते थे। नारी-सुलभ एकनिष्ठ प्रेम ने जैसे उस वृद्ध चिरकुमार के हृदय में अपना घर बना लिया था।

सेंट स्टीफेंस कालेज के प्रिंसिपल स्वर्गीय श्री सुशीलकुमार रुद्र दीनबन्धु के अति अन्तरंग बन्धु थे। रुद्र महाशय को एक

नातिन का जब जन्म हुआ, तब उस समय एंड्रूज ने मुझे बड़ी स्पर्धा के साथ लिखा था—"अब मैं भी 'ठाकुर दादा' (पितामह) हो गया हूँ।" ऐसा जान पड़ता है कि यह बात उन्होंने इसलिये मुझे लिखी थी कि उनके खयाल से मैं शायद अपनी कई नातिनों के होने के कारण अपने-आपको अहंकृत समझता हूँ! इस उक्ति का कारण सम्भवतः यह है कि वे भी किसी हद तक इस सम्बन्ध में मेरी समकक्षता में आ गये थे।

पहले वे शान्तिनिकेतन में अध्यापन-कार्य करते थे। वे विद्वान् थे, सुशिक्षक थे एवं गद्य और पद्य की बहुत-सी पुस्तकों और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रबन्ध-लेखक थे। बच्चे उनसे बहुत प्रेम करते थे। यह कहना व्यर्थ है कि वे भी बच्चों से बहुत अधिक प्रेम रखते थे, और उन्हें सब विषयों में स्वतंत्र एवं निर्भीक विचार करने और लोक-हितकर कार्य करने के लिये उत्साहित करते रहते थे। सामर्थ्य होने पर भी हम इस सम्बन्ध में कोई दृष्टान्त नहीं दे रहे।

भारतवर्ष के लोगों के साथ अभिन्नता स्थापित करने क चेष्टा करना उनके लिये बहुत आसान था। सरकारी अँगरेज कर्मचारियों के साथ साक्षात्कार करने के समय वे यद्यपि अपनी जातीय पोशाक पहन लेते थे, तथापि अन्य सब समय वे प्रायः देशी पोशाक—धोती, कुर्ता और चादर—ही पहना करते थे।

उसमे कोई सौन्दर्य (खास ढब) नहीं होता था। गले के बटन खुले ही रहते थे। शान्तिनिकेतन के कंकरीले रास्तों पर भी वे अक्सर नंगे पाँव ही चला करते थे। कभी-कभी पाँव में चट्टी डाल लेते थे।

यहाँ तक तो मैंने उनके संन्यास-ग्रहण की ही बात कही है। यदि उनका मन और हृदय भारतोन्मुखी नहीं भी होता, तो भी वे विषयासक्ति-हीन मनुष्य ही रहते। किन्तु भारतवर्ष को—विशेषतः बंगाल-प्रदेश को—स्वदेश कहकर वरण करने के बाद वे सच्चे भारतीय अर्थ में भी संन्यासी हो गये थे। किसी आय या सम्पत्ति पर उनकी आसक्ति नही थी। श्री रवीन्द्रनाथ ने एक बार श्री एंड्रूज के सामने ही हँसी मे मुझसे कहा था—"अगर आपको किसी चीज को भुलाने की जरूरत हो, तो उसे एंड्रूज को दे दें।" एंड्रूज ने हँसते हुए इसका प्रतिवाद किया। किन्तु वास्तव में किसी वस्तु को सँभालकर रखना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था।

उन्होंने उत्तर-भारत मे, विशेषतः बंगाल-प्रदेश में ही, जीवन के अधिकांश वर्ष बिताये थे। अन्तिम समय में दक्षिण-भारत में भी कुछ काल बिताकर वे उसके साथ घनिष्ठ परिचय स्थापित कर रहे थे।

वे भारत की बहुत-सी समस्याओं की मानविकता की

दृष्टि से आलोचना करते और उसी दृष्टि से ही उनके समाधान की चेष्टा भी करते। साक्षात् रूप से वे राजनीतिक विषयों से सम्पर्क नही रखते थे, फिर भी उनका राष्ट्रनैतिक ज्ञान और विलक्षणता बहुत ज्यादा थी। किन्तु वे भारतवर्ष की जो पूर्ण स्वाधीनता चाहते, उसके प्रमाण-स्वरूप गत फरवरी महीने के 'माडर्न रिव्यू' में लिखित उनके एक लेख (पृष्ठ १५६) से निम्न वाक्य हम उद्धृत कर रहे हैं—

"Every year that now passes in India, without removal of the foreign yoke, is undoubtodly an evil. It is likely to undo any benefit that may have been derived before. This was my main thesis in a series of articles which I wrote in 1921, called "The Immediate Need of Independence," where I emphasised the word "immediate," and I hold fast to every word which I there wrote.

"Nearly twenty years have passed since that date and hope deferred has made the heart sick. Things in India have deteriorated, as Prof. Seeley prophesied, and the evil is rapidly increasing. This agony of subjection is eating

like iron into the soul, and the strain must be relieved at once."

अर्थात्—"विदेशियों की गुलामी का जुआ भारत की गरदन पर से उतार फेंके बिना यहाँ जो प्रत्येक वर्ष बीतता है, वह एक असंदिग्ध अनिष्ट है। पहले जो लाभ हो सकता था, उसे अब यह बिलकुल विनष्ट कर देगा। यही मेरी सन् १९२१ में निकली 'The Immediate Need of Independence' (स्वाधीनता की शीघ्र आवश्यकता) शीर्षक लेखमाला का मुख्य अभिमत था, जिसमें मैंने 'शीघ्र' शब्द पर बड़ा जोर दिया था। उस समय लिखे गये प्रत्येक शब्द पर अभी तक मैं दृढ हूँ।

"उस बात को अब लगभग २० वर्ष हो चुके हैं और उस अपूर्ण आशा ने हृदय को रुग्ण बना दिया है। जैसी कि प्रो० सीले ने भविष्यवाणी की थी, भारत की स्थिति और भी नाजुक हो गई है, और वह अनिष्ट बड़ी तेजी से बढ़ता ही जा रहा है। गुलामी की यह वेदना भारत की आत्मा को घुन बनकर जर्जरित कर रही है, और इसका जल्द-से-जल्द अन्त करना आवश्यक है।"

इस ढंग से मनुष्य को अधिकांश साधारण अँगरेज—विशेषतः भारत-प्रवासी अँगरेज—प्रेम नहीं कर सकते। लार्ड बिशप

महोदय, जो प्रतिदिन उनको रोग-शय्या पर देखने जाते थे और जिन्होंने गिरजे में उनकी श्राद्धिक उपासना (मृत्यु के बाद की सर्विस) की और समाधि-स्थान तक पैदल चलकर वहाँ उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न कराई, यह उनके (लार्ड बिशप के) बन्धु-प्रेम, धार्मिकता और महानुभावता का प्रमाण है। गिरजे में और समाधि-स्थान में गैर-पादरी अँगरेज बहुत ही कम थे; अधिकांश भारतीय ही थे।

स्वाधीन देश के लोगों का यह एक सौभाग्य और उच्च अधिकार है, जो उनलोगो का हृदय अन्य देश के लोगों के दुःख में भी सक्रिय सहानुभूति से पूर्ण हो सकता है। दीनबन्धु ने इस सौभाग्य और उच्च अधिकार का यथोचित व्यवहार किया था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, साधारणतः भारतीय अँगरेज उनसे प्रेम नहीं कर सकते थे। किंतु उनके समान स्वदेश-प्रेमी विरले ही हैं। वे इस बात को जानते थे कि स्वाधीन भारत के साथ स्वाधीन ब्रिटेन की मैत्री से बढ़कर ब्रिटेन के के लिये (और संसार के लिये भी) अधिक कल्याणकारी अवस्था और कोई हो नहीं सकती। इसके निमित्त दोनो देशों की स्वाधीनता को भित्ति पर ही वे दोनों की मैत्री की इमारत खड़ी करना चाहते थे। दुर्भाग्यवश वह इमारत बन नहीं सकी,

परन्तु यदि कभी भी वह बन सके, तो दीनबन्धु की विदेही आत्मा अवश्य आनन्दित होगी।

जो अँगरेज उनसे प्रेम नहीं करते थे, वे यह नही जानते, नहीं समझते कि दीनबन्धु एंड्रूज के समान प्रतिनिधि पाना किसी भी जाति का कितना बड़ा सौभाग्य है? वे जाति-जाति में मैत्री के और विश्व-मैत्री के अन्यतम अग्रदूत थे। वे भारतीयो और भारत के सम्बन्ध में सब काम इस तरह करते, जैसे अपनी जाति के सब दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त कर रहे हों। किन्तु हमलोग उसे प्रायश्चित्त नहीं समझेंगे, बल्कि हम तो यही समझेंगे कि वे हमलोगों की मैत्री और हितकारिता के अपरिशोध ऋण से आबद्ध कर गये हैं।

कलकत्ता] —श्रीरामानन्द चट्टोपाध्याय
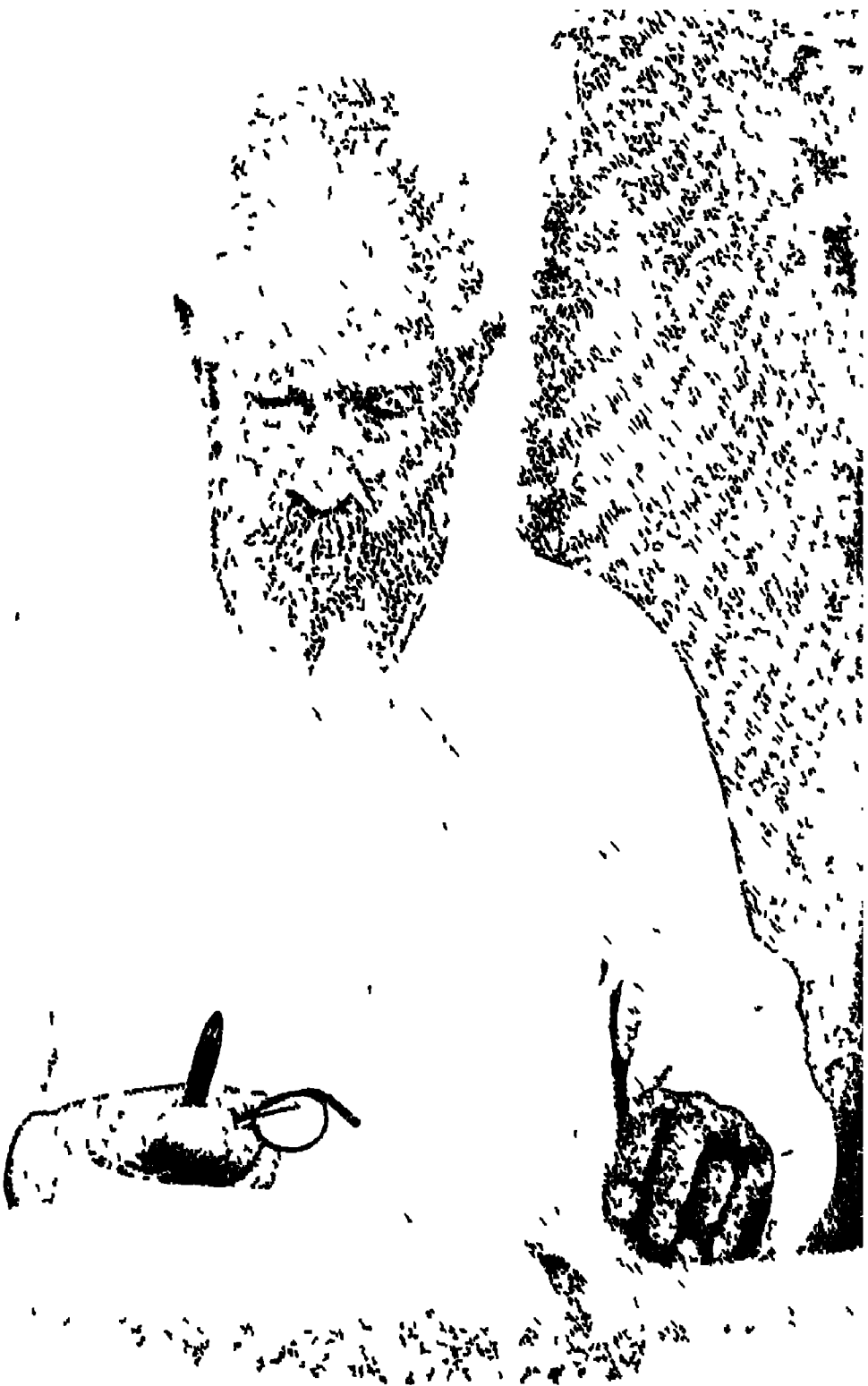
दीनबन्धु एंड्रूज

—पं० श्रीरामजी शर्मा के सौजन्य से

भक्त एंड्रूज का आत्मोत्सर्ग

जड़ से चेतन में एक विशेषता पाई जाती है। जड़ में अभिवृद्धि और विकास नहीं होता। जितनी सामग्री से जड़ वस्तु की रचना का आयोजन होगा, वह उससे कभी बढ़ नही सकती। यही कारण है कि उसके लिये वृहदारंभ की आवश्यकता है। जितनी ही बड़ी वस्तु की रचना अभीष्ट है उतना ही विशाल उसका आयोजन होना चाहिये। परन्तु चेतन विकासशील होता है। उसके लिये वृहदारंभ की जरूरत नहीं होती। वह सदा लघ्वारंभ होता है। क्षुद्र बीज में प्राणधर्म होता है, जो आगे चलकर निरन्तर बढ़ता हुआ विशाल अरण्य में परिणत हो सकता है। किन्तु आलीशान इमारत का आरम्भ जितनी सामग्री से होता है, वह अन्त तक उतनी ही रह जाती है, वरन् घटती ही रहती है। कविवर रवीन्द्रनाथ प्राणधर्म में विश्वास करते हैं। इसलिये वे लघ्वारंभ के पक्षपाती हैं। वृहद् आयोजन का सामग्री बहुल होना आवश्यक है, जो लघ्वारंभ चैतन्य धर्म के वहिर्भूत है।

प्राणधर्म के सूक्ष्म होने के कारण उसे एक देश और एक

काल से दूसरे देश और दूसरे काल में संक्रमित होते देखा जाता है। स्थूल जड़ वस्तु मे यह योग्यता नहीं है। आश्रम-सम्बन्धी प्राचीन चिन्ता इसलिये रवीन्द्रनाथ को मिल सकी थी कि उसमे प्राणधर्म था, और इसलिये वह काल-सीमा से बद्ध नहीं है। अत्यन्त स्वल्प आयोजन के साथ, सिर्फ दो विद्यार्थियों को लेकर, सन् १९०० ई० में शान्तिनिकेतन-आश्रम की स्थापना हुई थी। इस अकिंचन आश्रम मे ऐसी कोई आकर्षक वस्तु नहीं थी, जो योरप के लोगो को आकृष्ट कर सके। अन्ततः हमलोगों ने ऐसा नहीं सोचा था कि योरपखंड के लोग इस लघु प्रयत्न की तरफ आकृष्ट होंगे; क्योंकि यद्यपि योरप महान् ईसा का शिष्य है, जिन्होंने प्राणधर्म में विश्वासी होने के कारण ही 'माउंट' से 'सरमन' में कहा था कि भविष्य उन्हीं का है जो दीन हैं, जो दलित हैं, जो उपेक्षित हैं; तथापि योरप आज अपने गुरु के महान् उपदेश की बहुत अधिक परवा करता नहीं दिखाई देता। कोई भी आज के योरप की अहमिका देखकर यह विश्वास नहीं कर सकता कि वह दीनों या दलितों की महिमा में विश्वास करता है। किन्तु, इसी योरप से दो धर्म-प्राण मनीषियों का आगमन इस स्वल्पायोजन आश्रम में हुआ। उन दिनों हमलोग बहुत थोड़े आदमी यहाँ रहते थे। हमारे पास दिखाने की कोई वस्तु नहीं थी। फिर भी ये दो महापुरुष यहाँ आ

गये। इनके नाम हैं पियर्सन और एंड्रूज। यह आज से लगभग २६-२७ वर्ष पहले की बात है।

इसके पहले हमारा परिचय साम्राज्यवादी अँगरेजो से ही था। प्रभु ईसा मसीह के भक्तों से हमारा कोई परिचय नहीं था। पहली बार हमने भक्त अँगरेज देखे।

एंड्रूज साहब का जन्म इंगलैंड के एक शिक्षित और भक्त ईसाई परिवार मे हुआ था। धर्म की शिक्षा उन्हे किसी ईसाई पादरी के मुख से नहीं मिली थी। अपनी माता की गोद में बैठकर ही उन्होंने धर्म-शिक्षा पाई थी। यह एंड्रूज का परम सौभाग्य था, क्योंकि जीवन के आरम्भ में किसी पादरी या धर्म-गुरु से शिक्षा पाने में वह रस नहीं मिल सकता था, जो माता के मुख से मिल सका था। धर्म-शिक्षा मातृस्तन्य के समान ही उनके मन और प्राणों में अनायास ही घुल-मिल गई थी। इसलिये बाइबिल के तत्त्वज्ञान और धर्मतत्त्व उनको उतना प्रभावित नही कर सकते थे, जितना प्रभु ईसा मसीह का सहज जीवन। वे तत्त्ववाद और धर्म-विज्ञान के रास्ते नहीं सोचते थे। वे ईसा के सहज जीवन के रास्ते किसी वस्तु को देखते थे। जब कभी इस आश्रम में ईसा मसीह के सम्बन्ध में कोई उत्सव-अनुष्ठान होता और उन्हे बोलने का अवसर मिलता, तभी वे माता से सुनी हुई ईसा मसीह के जीवन की सहज कथाएँ सुनाया

करते थे। इन कहानियों में वे अपना सारा मन और प्राण ढाल देते थे। सुननेवालों को ऐसा लगता था कि वह वृद्ध अभी भी बालक है, और वे माता की गोद में बैठकर आज भी मधुर कथा सुन रहे हैं। ये कहानियाँ हमने उनसे बार-बार सुनी हैं; पर वे कभी भी पुरानी नहीं लगीं। उनमे सदा वही माधुर्य, वही भोलापन, वही भक्ति और वही ताजगी रहती थी। पिछले बड़े दिन के उत्सव में अन्तिम बार उनसे यह कहानी सुनी थी। उनकी आँखें भक्ति के आवेश में वाष्पाकुल थीं और कठ अत्यन्त मधुर हो उठा था। हाय, उस दिन क्या हम जानते थे कि इस कहानी के सुनने का यह अन्तिम दिन है।

ईसा मसीह का यह सरल और पवित्र जीवन ही उन्हें सभी प्रकार की क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर ले गया था और सभी वाधाओं और विघ्नों से मुक्त कर सका था। जो सचमुच ईसा मसीह के भक्त हैं, उनमें ऊँच-नीच का भेद क्यों रहेगा? भारतवर्ष मे आकर पहले-पहल उन्होंने दिल्ली के सेंट स्टीफेन्स कालेज में अध्यापक होकर योग दिया। वे केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के पेम्ब्रोक-कालेज के फेलो थे। उन्होने उक्त विश्वविद्यालय मे लैटिन और ग्रीक के प्राचीन शास्त्रीय साहित्य का बहुत उत्तम अध्ययन किया था। परन्तु उनकी साहित्यिक प्रतिभा भी उन्होंने माता से ही विरासत में पाई थी। सेंट स्टीफेन्स कालेज में

उन्होंने देखा कि भारतीयों को वहाँ अध्यक्ष नहीं होने दिया जाता, सदा यूरोपियन ही उक्त पद के योग्य मान लिये जाते हैं। उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। उन दिनों सुशीलरुद्र नामक एक अति योग्य भारतीय ईसाई सज्जन उक्त कालेज में अध्यापक थे। ऐसे योग्य व्यक्ति के ऊपर बैठकर अध्यक्षता करना एंड्रूज-जैसे महाप्राण व्यक्ति को पसन्द नहीं आ सका। उन्होंने अधिकारियों और स्वदेश-वासियों का विरागभाजन होकर भी सुशीलरुद्र महाशय को अध्यक्ष बनाया। जिस समय वे इस शान्तिनिकेतन आश्रम में आये, उस समय आश्रम अत्यन्त छोटा था, आयोजन नितान्त अल्प था। किन्तु एंड्रूज की जीवन-यात्रा भी इतनी सहज थी कि उन्हें इस वातावरण में अपने-आप को खपा देने में कुछ भी कठिनाई नही हुई। इसके आगे उनके कुछ लेख मैंने पढ़े थे, इस बार उन्हे प्रत्यक्ष देखा। प्रीति, भद्रता और सौजन्य की तो वे मानो साक्षात् मूर्त्ति थे। भारतवर्ष के साथ उनका योग-श्रद्धा का योग था। उनमें कहीं औद्धत्य, दांभिकता या अवज्ञा का भाव नही था। वे ईसा के सच्चे भक्त थे, इसलिये उनकी प्रीति और सुजनता किसी प्रकार की भौगोलिक बाधा को नहीं मानती थी।

भारत की प्राचीन साधना और महत्त्व के प्रति उनको गम्भीर श्रद्धा थी। वे स्वयं साधक थे, इसलिये इस देश की साधना के

विषय में जानने मे उनका आग्रह अत्यधिक था। भारत के प्राचीन भक्तो और साधकों की बातें जानने के लिये गुरुदेव ने उन्हे हमारे पास भेज दिया इससे उनके और मेरे बीच एक गम्भीर और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ था। शुरू-शुरू में मेरे साथ यद्यपि उनकी मित्रता हो गई थी, तथापि प्राचीन भारतीय साधना-प्रणाली के सम्बन्ध में उनसे बात करने में मुझे संकोच होता था, क्योंकि मन में शंका बनी रहती थी कि ये बातें उन्हें अच्छी लगेंगी या नहीं। जब उन्होंने स्वयं धीरे-धीरे अपनी आध्यात्मिक साधना के अनुभव बताना शुरू किया, तब मुझे ऐसा लगा कि भारतीय साधकों की अनुभूति और उनकी अनुभूति में एक-एक स्थान पर आश्चर्यजनक मेल है। यद्यपि अन्तर भी है, तथापि वे मेल के स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

एक दिन उन्होंने कहा कि योरप यदि भारतवर्ष की पार्थिव सम्पत्ति ही लेना चाहता है तो वह भारतवर्ष से कुछ भी नहीं पा सकता। यहाँ के लोहा, कोयला, अनाज आदि ही अगर उसने लिये, तो वस्तुतः वह कुछ भी नही ले सका। यहाँ की साधना, संस्कृति, भक्ति, प्रेम, ज्ञान, कुछ भी तो वह नहीं ले सका। मैं चाहता हूँ, भारतवर्ष का गम्भीरतम ऐश्चर्य प्राप्त करना। इसके बाद मेरे साथ भारतीय भक्तों और साधकों के विषय में उनसे

अनेक बातें हुई हैं। भारतवर्ष के साधकों के ध्यान, प्रेम, साधना आदि को वे ध्यानपूर्वक सुनते और अपने जीवन में उन्हें उतारने की चेष्टा करते।

उनके साथ परिचय होने के कुछ दिन बाद उन्हें लेकर मैं इसी जिले में जयदेव गोस्वामी के स्थान केन्दुबिल्व को गया था, क्योंकि वे भारतीय वैष्णवो और बाउल भक्तों को देखने के लिये अत्यन्त उत्सुक थे। वहाँ सौभाग्य-वश मुसुड्डी मठ के महन्त बाबा विहारी दास के साथ साक्षात्कार हुआ। बाबा विहारी दास जैसे पंडित थे वैसे ही सदाचारी यथार्थ वैष्णव भी थे। वे प्राचीनों की भाँति ही अत्यन्त शौचाचारपरायण और शास्त्रनिष्ठ साधु थे। फिर भी एंड्रूज साहब के साथ उनकी घनिष्ठता बहुत शीघ्र ही हो गई, और दोनों में घनिष्ठ वार्तालाप हुआ। बाबा विहारी दास के यहाँ से एंड्रूज साहब को मैं बाउल भक्त हरिदास और नित्यानन्ददास के पास ले गया। उनके गम्भीर तत्त्वालाप को सुनकर एंड्रूज साहब आत्महरा हो गये। उन्होंने कहा कि योरप आज शास्त्रवाक्यों पर विश्वास करना नहीं चाहता; इसलिये आपके देश के शास्त्रीय विश्वास उनको अपील नही करते। पर किसी प्रकार यदि इन बाउलों की मुक्तवाणी ढंग से योरप तक पहुँचाई जा सके, तो निश्चय ही वहाँ की चिन्ता-प्रणाली मे क्रान्ति हो सकती है। वे वाणियाँ योरप की चिंता के मूल में आघात करेंगी।

कविवर रवीन्द्रनाथ के प्रति उनकी आश्रम की सेवा के लिये उन्होंने अपने-आपको उत्सर्ग कर दिया था। उन दिनों आश्रम के पास कोई भी वाह्य समृद्धि नहीं थी। उसके उस समृद्धिहीन से दिखनेवाले रूप के प्रति श्रद्धा होना एक शक्तिशाली प्रेमी हृदय और दूरदर्शी दृष्टि का ही काम था। उन्हें इस आश्रम पर सिर्फ श्रद्धा ही नहीं थी, बल्कि उन्होंने अपना इतना बड़ा होनहार जीवन इसके लिये पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर दिया था। इस विषय में उनके एकमात्र साथी पियर्सन ही थे। उन्हींके साथ उन्होंने इस आश्रम की सेवा का व्रत ग्रहण किया।

बाइबिल में प्रेम के दो आदर्श दिये गये हैं—एक मार्था और दूसरा मेरी। मेरी का प्रेम केवल ध्यान और प्रेम से ही तृप्त था। इसमें बहुत-कुछ प्राच्य भाव-सा था; किन्तु मार्था का प्रेम सेवा और कर्म से अपने को सार्थक करना चाहता था। उसमें कुछ प्रतीच्य भाव था। पियर्सन साहब मे मेरी का प्रेम-भाव ही अधिक था, एंड्रूज मे यद्यपि मार्था का भाव ही प्रधान था, तथापि मेरी का भाव भी कम नहीं था। उनके प्रेम के साथ बलिष्ठ कर्म और सेवा के भाव मिले हुए थे। वे प्रायः कहा करते थे कि मेरे जीवन में जबतक मेरी और मार्था एकत्र नहीं होते, तबतक मुझे शान्ति नही मिलने की।

शान्तिनिकेतन में उन दिनों एक भी पक्का मकान नहीं था।

शिक्षक लोग मिट्टी के घरों में रहते थे, जिनकी छतें फूस की हुआ करती थीं। अब भी ऐसे कुछ मकान रह गये हैं। यहाँ भोजनादि की व्यवस्था अत्यन्त सामान्य-सी थी। इस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त न तो एंड्रूज ही थे और न पियर्सन ही। फिर भी उन्होंने इस जीवन को वरण कर लिया। इसका बुरा असर हुआ और उनका शरीर दुर्बल हो गया। यद्यपि पियर्सन साहब दैवयोग से इटली में एक दुर्घटना से मरे, तथापि उनका स्वास्थ्य यहीं से गिर चुका था। इसका कारण सिर्फ आश्रम का उक्त प्रकार का जीवन ही नहीं था; वरन् इन दोनों महापुरुषों के स्वभाव में भी इसका कारण छिपा हुआ था। जहाँ कहीं दुःख-दुर्गति की बात वे सुनते, वहीं दौड़ जाते और नियम भंग होता, जिसका बुरा असर उनके स्वास्थ्य पर पड़ता।

फीजी में भारतीय कुलियों, और विशेषकर उनकी स्त्रियों के प्रति जो दुर्व्यवहार होता था, उसे दूर करने के लिये वे दोनों ही गये। वहाँ का सारा दुःख वे दूर नहीं कर सके; पर कुछ दुःख दूर करने में समर्थ हुए थे। इसी उद्देश्य से एंड्रूज साहब दक्षिण और पूर्व अफ्रिका में गये थे। ब्रिटिश गायना में भी गये थे। इन यात्राओं का कुछ विशेष शुभकर फल हुआ है, ऐसा नहीं कह सकते। परन्तु, अफ्रिका की यात्रा का एक बहुत ही श्रेष्ठ परिणाम हुआ। वह है महात्मा गान्धी के साथ एंड्रूज

साहब का परिचय। महात्मा गान्धी के साथ का यह परिचय एंड्रूज साहब के जीवन में एक गाढ़ और अकृत्रिम बन्धुत्व का कारण हुआ और आगे चलकर एंड्रूज साहब ने ही महात्माजी का गुरुदेव से परिचय कराया, जो नानारूप से बहुत ही शुभकर हुआ।

महात्माजी अफ्रिका से भारत आनेवाले थे। उनके पहले ही उनका अफ्रिकावाला फीनिक्स विद्यालय यहाँ आ गया था, जो उनकी चिन्ता का हेतु बना हुआ था। जब एंड्रूज साहब से कविवर रवीन्द्रनाथ ने यह बात सुनी, तब उन्होंने उक्त विद्यालय के शिक्षकों और छात्रों को तब तक के लिये शान्तिनिकेतन में आमन्त्रित किया, जब तक महात्माजी कहीं निश्चित रूप से यहाँ आकर जम न जायँ। इस सिलसिले मे महात्माजी और कवि का परिचय और भी गाढ़ और गम्भीर हुआ। इन सब के मूल में एंड्रूज साहब थे।

रवीन्द्रनाथ और महात्माजी प्रकृत्या कुछ भिन्न व्यक्ति हैं। जब-जब यह मतद्वैध प्रकट हुआ है, तब-तब लोगों ने उसे लेकर तूल दिया है—अखबारों मे हल्ला मचाया है। केवल एंड्रूज ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जो निरन्तर यह चेष्टा करते रहते थे किस प्रकार इन दो मतो में सामंजस्य लाया जाय। वे निरन्तर महात्माजी और कवि के बीच सेतु का काम करते रहते थे। इस दृष्टि से एंड्रूज ने भारतवर्ष की अद्वितीय सेवा की है।

एंड्रूज के लिये दूर और निकट का कोई भेद नहीं था। यद्यपि उन्होंने आश्रम की सेवा का संकल्प किया था; पर जैसे परोपकारी पति के कारण पत्नी का सांसारिक कार्य चलना कठिन हो जाता है, वैसे ही इस मानवता-प्रेमी सेवक को पाकर आश्रम के दैनिक कार्य चलने मे प्रायः कठिनाई उपथित होने लगी। आज वे चम्पारन में निलहे गोरों से अत्याचार-पीड़ित प्रजा की पुकार सुनकर बिहार की ओर भागे जा रहे हैं, तो कल आसाम-बंगाल रेलवे के हड़तालियों की दुःख-दुर्गति से विचलित होकर आसाम की ओर दौड़े जा रहे हैं। दूरी उनके लिये कोई बाधा नहीं थी। कभी वे उड़ीसा की बाढ़ से तबाह हुए जन-साधारण के लिये दौड़-धूप कर रहे हैं तो कभी उत्तर बंग के बाढ़-पीड़ितों के बीच विराजमान हैं। कभी विदेश से आये हुए कुलियों के लिये भागे जा रहे हैं, तो कभी पंजाब मे अत्याचार से पीड़ित व्यक्तियो के लिये एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। आसाम-बंगाल रेलवे की प्रसिद्ध हड़ताल के समय उनकी महाप्राणता का अद्भुत प्रमाण मिला था। यह हड़ताल उनकी इच्छा के विरुद्ध की गई थी। परन्तु लाखों हड़तालियो की दुःख-दुर्गति के समय जब उनके नेता धीरे-धीरे खिसकने लगे थे, तब एक एंड्रूज ही उनकी सहायता के लिये दिन-रात एक करते दिखाई दिये।

किसी कल्याण-व्रत की सहायता करने में उन्हें कभी आलस्य नहीं होता था। भारत और भारत के बाहर भी उनके साथ किसी-किसी कल्याण-कार्य के समय मैंने स्वयं देखा है कि दिन और रात उन्हे न तो खाने की चिन्ता है और न सोने की। केवल चाय पर ही दिन-रात काट देना उनके लिये मामूली-सी बात थी। हमलोगों का शरीर इतना बरदाश्त नहीं कर पाता था। हम हार मान जाते थे; परन्तु यद्यपि एंड्रूज का शरीर जवाब दे जाता था, फिर भी उनका मन ज्यों-का-त्यों रहता था। उसमें जरा भी हार मानने के लक्षण नहीं देखते थे। ऐसा करने से स्वास्थ्य कितने दिन बना रह सकता है—वज्र का शरीर भी टूट जा सकता है।

दूसरों के लिये द्वार-द्वार भीख माँगने में भी वे कुंठित नहीं होते थे। सबके कल्याण के लिये वे महादेव की भाँति दर-दर झोली लेकर चक्कर लगा सकते थे; परन्तु अपने लिये वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। 'अपना' कहने योग्य उनके पास कुछ नहीं था। यदि किसी ने कुछ दे दिया, तो वे दो ही दिनों में उसे खो आते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि किसी ने यदि उन्हें कोई वस्तु व्यवहार के लिये दी और एंड्रूज साहब को स्मरण आ गया कि उसकी चीज लौटानी चाहिये, तो किसी और की चीज उसे लौटा देते थे। उन्हें स्मरण ही नहीं रहता था कि क्या लिया

था और क्या दिया। ऐसे अवसरों पर अधिकतर वे मामूली चीज की जगह दामी चीज लौटा दिया करते थे। एक बार इसीलिये गुरुदेव ने कहा था कि 'Mr. Andrews, like a river you enrich one bank at the expense of another.' अर्थात् 'एंड्रूज, तुम नदी की भाँति एक किनारे से हरण करते और दूसरे किनारे को पूरण करते हो।' एक और अवसर पर गुरुदेव ने कहा था कि यदि तुममें से किसी को अपनी चीज खोने की जरूरत हो, तो उसे एंड्रूज को दे दो। इसपर एंड्रूज साहब ने हँसते हुए कहा—"No no Gurudeva, you are very mischievous." "नहीं, गुरुदेव, आपका मज़ाक—"

रवीन्द्रनाथ के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ को जो वे वश कर सके थे, इससे उनके प्रेम का प्रमाण पाया जाता है। द्विजेन्द्रनाथ अत्यन्त प्राचीन भारतीय ढंग के ध्यानी, दार्शनिक और साधक थे। साथ ही वे अत्यधिक स्वदेश-भक्त थे। कहीं भी वे पाश्चात्य प्रभुत्व को बरदाश्त नहीं कर सकते थे; इसीलिये वे विदेशियों से प्रायः दूर रहा करते थे। एंड्रूज और पियर्सन जब उनसे घनिष्ठता करने गये, तब शुरू-शुरू में उन्होंने किसी प्रकार उन्हें पास नहीं फटकने दिया। मुझे याद है, एक दिन उन्होंने एंड्रूज साहब को न जाने क्या ऐसा कुछ कहा कि लौटकर उनके नाती दिनेन्द्रनाथ ठाकुर से उन्होंने कहा था—

'Dinoo, your Grandfather is simply terrible.' किन्तु इसका बदला एंड्रूज साहब ले सके थे। बाद में यही द्विजेन्द्र-नाथ एंड्रूज का अपने छोटे भाई की भाँति अपना सके थे। एक दिन भी एंड्रूज को न देखने से वे अधीर हो जाते थे।

असल में द्विजेन्द्रनाथ जो कुछ चाहते थे, एंड्रूज भी वही चाहते थे—अर्थात् भारतवर्ष की स्वाधीनता मन-वचन-कर्म से एंड्रूज की भी काम्य थी। इसलिये उनके स्वदेशवासी अँगरेज लोग उन्हें विशेष पसन्द नहीं करते थे। इस बार देखा गया कि उनके श्राद्ध के दिन गिरजे और समाधि-स्थान पर अँगरेजों की अपेक्षा भारतीय ही अधिक थे। यह नहीं कि वहाँ कुछ महाप्राण अँगरेज थे ही नहीं; पर एंड्रूज-जैसे महाशय व्यक्ति के सम्मानार्थ जितने अँगरेज अपेक्षित थे उतने नहीं थे। भारतवर्ष के लार्ड बिशप, जो एंड्रूज साहब के घनिष्ठ मित्र थे, तथा अन्य कई महाप्राण अँगरेज वहाँ उपस्थित थे। यह यहाँ अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि भारतीय स्वाधीनता की कामना उनके लिये स्वदेशद्रोह नहीं थी। उनका विचार था, जो वस्तुतः आज सत्य सिद्ध हो रहा है कि भारतवर्ष को स्वाधीन करने में ही सारे संसार का कल्याण है। यहीं उनके गम्भीर राजनीतिक भाव और महत्त्व का परिचय पाया जाता है।

इस प्रसंग में एक और बात की याद आ रही है। जब मेजर

वामनदास बसु की अँगरेजी राज्य विषयक कई ऐतिहासिक पुस्तकें भारत में प्रकाशित हुईं, तब परलोकगत डाक्टर जे० टी० सन्डरलैंड साहब ने सर्वान्तःकरण से इच्छा की कि ये पुस्तकें अमेरिका और इंगलैंड में प्रचारित हों। उपर्युक्त पुस्तकों का अँगरेज प्रकाशक पाया जा सकता है या नहीं, इस आशंका के उत्तर में सन्डरलैंड साहब ने लिखा था कि मिस्टर एंड्रूज से चेष्टा करने को कहो, उनका वहाँ काफी प्रभाव है। प्रकाशक तो राजी थे; पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने उनका प्रकाशन निषिद्ध कर दिया। यह बात मैंने श्रीरामानन्द बाबू से सुनी है।

अब तक हमने एंड्रूज साहब की असाधारण साहित्यिक शक्ति की बातें नहीं की हैं। वे बड़ी-से-बड़ी बात को अत्यन्त सरल और प्रभावशाली भाषा में व्यक्त कर सकते थे। उनका बोलना और लिखना दोनों ही आश्चर्यजनक ढंग से साफ़, सहज और सुलझे हुए होते थे। मानव-हित का काम वे इतना करते थे कि वे साहित्यिक कार्य कुछ कर नहीं पाते थे। उन्हें नित्य दर्जनों चिट्ठियाँ लिखनी पड़ती थीं, प्रायः कोई-न-कोई बड़ी चिन्ता से वे सदा व्यग्र रहा करते थे—इन सबके बाद भी वे जो कुछ समय बचा सकते थे उसी में जो कुछ लिख गये हैं, वह उनकी विशाल-प्रतिभा का ज्वलन्त परिचायक है।

आज वे परलोक चले गये हैं। उन्हे यदि किसी विशेष

देश का अधिवासी कहकर उनके प्रति हम श्रद्धा निवेदन करें, तो उनकी आत्मा का अपमान होगा। वे जातीयता से बहुत ऊपर के आदमी थे। ऐसा न होता, तो क्या वे अँगरेज होकर भारतीयों के लिये सर्वस्वहारा हो सकते थे? यदि वे राष्ट्रवादी होते, तो भारतीय राष्ट्रवादी उनके निकट कैसे आ सकते थे? रवीन्द्रनाथ का जो विश्व-राष्ट्रीयता का ध्यान है उसके प्रत्यक्ष विग्रह थे एंड्रूज और पियर्सन।

जिस प्रकार राष्ट्रीयता की दृष्टि से देखने से वे सभी राष्ट्रों के अपने थे, वैसे ही वे सभी सम्प्रदायों के भी अपने थे। ईसा मसीह की भाँति वे भगवान् के ही जन थे, किसी दल विशेष के नहीं। इन्हीं ईसामसीह के नाम से उनका हृदय प्रणत था, ईसाई भक्तों की कथाओं से वे गद्‌गद हो जाया करते थे, तथापि हिन्दू साधक और साधना की बात वे कितनी श्रद्धा-भक्ति के साथ सुनते थे और हमारे साथ कितनी-कितनी दूर तक इसे जानने के लिये जाया करते थे। भारतीय साधना की मूर्त्ति द्विजेन्द्रनाथ के चरणों में बैठकर वे प्रायः नित्य ही भारतीय साधना और तत्त्ववाद की बातें सुनते। मुसलमान भक्त जकाउल्ला के प्रति भी उनकी असीम श्रद्धा थी। ऐसे आदमी को किसी विशेष साम्प्रदायिक परिचय से लांछित करना हमारे लिये बड़ा अपराध होगा।

कुछ दिन आगे से ही उनका शरीर एकदम टूट चुका था। फिर भी देखा है, यहाँ आकर भी वे दिन-रात पत्र लिख रहे हैं और समागत दर्शनार्थियों के साथ आलाप-आलोचना करके भारत की दुःख-दुर्गति के प्रतिकार की चेष्टा करते रहे हैं। पिछले खीष्टोत्सव के दिन भी जब उन्होंने भक्ति-परिप्लुत-भाषा में ईसा मसीह की जीवनी सुनाई थी, तब हमने यह नहीं समझा था कि उनका समय भी पूरा हो आया है। यह हम नहीं समझ सके कि वे अपने चिर आराध्य उसी महापुरुष की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

अचानक वे कलकत्ता गये। खबर लगी, उनके पेट में पीड़ा हुई है। अस्त्रोपचार किया गया। रोग का समाचार पाकर बन्धु-बान्धव उद्विग्न हो उठे। महात्माजी ने कई बार उन्हें रोग-शय्या पर देखा और सुश्रूषा की व्यवस्था की; परन्तु वे रोके नहीं जा सके। जिन्होंने अपने प्राण मानव-हित-रूप यज्ञ में उत्सर्ग कर दिये हैं, उनके लिये जीवन और मरण दोनों समान हैं।

भगवान् के प्रेमलोक की वार्त्ता जिसके अन्तर में पहुँची है, वह क्या जीवन को पकड़कर रह सकता है? भक्त ने जिसके हाथ जीवन पाया था, उसी के साथ अपने अमलिन जीवन को— जिसे कहीं भी उन्होंने अपमानित और कलुषित नहीं होने

दिया—लौटा देने के लिये कूच कर दिया! मृत्यु के समय भी उन्हें अपनी चिन्ता नहीं थी। चिन्ता थी तो सर्वमानव के कल्याण की। यहाँ उनकी मृत्युकालीन अन्तिम वाणी उद्धृत कर रहा हूँ—'While I had been lying in the hospital I trust that my prayers and hopes have not been merely concerning my over sufferings which are of the smallest importance of the whole human race. I have prayed every moment that God's Kingdom may come and his will may be done on earth as it is always being done in the Heaven.' अर्थात् 'जब से मैं अस्पताल में पड़ा हूँ, मेरा विश्वास है कि मेरी प्रार्थनाएँ और आशाएँ केवल मेरी अपनी ही यातनाओं से, जो समूचे मानव-समाज की महान्तम यातनाओं को देखते हुए आज सबसे कम महत्त्व रखती हैं, सम्बन्धित नहीं हैं। मैंने प्रत्येक क्षण यही प्रार्थना की है कि ईश्वरीय राज्य पृथ्वी पर स्थापित हो और उसकी इच्छानुसार ही पृथ्वी पर सारा काम हो, जैसा स्वर्ग में नित्य ही हुआ करता है।'

एंड्रूज की मृत्यु मृत्यु नहीं है, वह भक्त का भगवान् में आत्म-समर्पण है। गंगा जहाँ महासागर मे आत्म-समर्पण करती है, वह संगम-तीर्थ जिस प्रकार परम मुक्तिस्थान है, वैसे

ही इनका यह आत्म-समर्पण भी मुक्ति का एक परम तीर्थ है। यहीं वे संसार के सभी धर्मों के सभी महापुरुषों के साथ मिले हुए हैं। इस तीर्थ में स्नान करके आज हम अपने को भी मुक्त करें।

विश्वभारती, शान्तिनिकेतन
जनवरी, १९४१

—आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन

दीनबन्धु एंड्रूज के संस्मरण

जब मैं दीनबन्धु एंड्रूज के कुछ संस्मरण लिखने बैठा, तब सचमुच कुछ सूझ नहीं पड़ा; कारण कि उनके प्रेम और आदर्शों का प्रभाव मुझपर इतना गहरा पड़ा है कि उसे अलग करके उनके जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं को पंक्तिबद्ध करना कठिन मालूम होता है। तब भी जो दो-चार स्मृतियाँ इस समय याद आ रही हैं, उन्हें ही यहाँ लिखे देता हूँ।

दीनबन्धु के जीवन का परिचालित करनेवाला आदर्श क्या था, सो बहुत वर्ष हुए, उनकी मेज पर सूत्ररूप में लिखे हुए एक लैटिन वाक्य को पढ़कर मैंने जाना। उसका अर्थ पूछने पर उन्होंने बतलाया कि वाक्य का आशय है—'*तुमने अधिक क्या किया?*' वे अक्सर कहा करते थे कि हमलोग अपने धर्म और कर्त्तव्य-मात्र को जानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं; उससे अधिक उदार होने की कोई जरूरत नहीं समझते। मानों मनुष्य की आत्मा सीमित वस्तु है। यदि आदमी सिर्फ उतना ही करे, जितना उसे करना है, अथवा जितने की उससे माँग है तो इस कर्त्तव्य-पालन में बनियागिरी की गन्ध आती है।

सम्भवतः महात्मा क्राइस्ट के मन में भी कुछ ऐसा ही विचार था। जब उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि यदि कोई गरीब तुमसे तुम्हारा कोट माँगे, तो उसे कोट देकर ही मत सन्तुष्ट हो रहो; अपनी कमीज भी उतारकर दे दो।

जब मैं दीनबन्धु का सेक्रेटरी था, तब मैंने प्रत्यक्ष देखा था कि यदि अपनी आवश्यकता के लिये किसी ने कभी उनसे एक रुपये की माँग की, तो वे उसे पाँच से कम नहीं देते थे। शान्तिनिकेतन में मैंने देखा था कि किसी फकीर के धोती माँगने पर वे धोती के साथ कुर्ता भी उतारकर दे देते थे।

इसी प्रकार उदार प्रेम का वर्ताव वे उनके साथ भी करते थे, जिन्हें समाज घृणा और लांछना की दृष्टि से देखता है। भारत आने के पूर्व दीनबन्धु लंदन शहर के उस भाग में निवास करते थे, जहाँ पहले दर्जे के शराबी और जुआरी रहा करते हैं। उनके बीच रहते हुए उनकी सेवा करने में उन्हें असीम आनन्द और सन्तोष का अनुभव होता था। उनलोगों में एक ऐसा व्यक्ति भी था, जो शराब पीकर दंगा-फसाद करने तथा नीच कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण कई दफा जेल भुगत आया था। हर बार उसके जेल से लौटने पर दीनबन्धु उससे बड़े प्रेम से मिलते और उसके कल्याण के निमित्त प्रभु से प्रार्थना किया करते थे। एक दिन उसने चिढ़कर कहा—'आप मेरे पीछे

क्यों पड़े हैं ? आप मुझे पक्का ईसाई बनाना चाहते हैं; लेकिन मैं आपसे साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि आपके भगवान् और ईसामसीह में मेरा रत्तीभर भी विश्वास नहीं है।' दीन-बन्धु ने उसका आलिंगन करते हुए कहा—'भाई, भगवान् तो तुम-पर विश्वास कर रहे हैं; वे तो तुमसे बराबर स्नेह करते हैं।' इन शब्दों का प्रभाव उस आदमी पर जादू-जैसा पड़ा। उसी दिन से उसका जीवन ही बिल्कुल बदल गया। लोग हैरान थे कि आखिर वह आदमी सहसा क्यों इस कदर बदल गया। उससे पूछा जाता—'भाईसाहब, आज-कल आपका व्यवहार ऐसा ममतामय और वृत्ति ऐसी शान्त क्यों हो गई है?' वह उत्तर देता—'जानते नहीं? भगवान् मुझसे प्रेम करते हैं, तब मुझे भी तो उनके उस विराट् प्रेम के कुछ योग्य बनना होगा न?' कुछ दिनों के बाद वह आदमी अफ्रिका चला गया और वहाँ पादरी की हैसियत से बहुत वर्षों तक लोगों की सेवा करता रहा।

कराची में एक बार एक अँगरेज अपनी पत्नी और चार वर्ष की बच्ची को लेकर दीनबन्धु से मिलने आये। संध्या समय जब हमलोग समुद्र-तट पर टहल रहे थे, दीनबन्धु ने उनसे बात-चीत की। जब वे विदा होने लगे, तब उनकी छोटी बालिका दीनबन्धु की ओर ताककर बोल उठी—Mummy! He is Jesus! 'माँ, यह तो ईसूमसीह है!' दीनबन्धु की आँखों

में आँसू उमड़ पड़े। उन्होंने बालिका को अंक में समेटकर अपनी दिव्य शान्ति से उसका मस्तक चूम लिया।

उनकी कराची-यात्रा की और भी दो-एक बातें याद आ रही हैं। एक दिन एक युवक ने उनसे प्रश्न किया—"एंड्रूज साहब, ईश्वर कहाँ है?" दीनबन्धु ने उससे हँसकर कहा—"मैं तुम्हे शाम को ईश्वर के पास ले चलूँगा।" शाम हुई और युवक उत्सुकता पूर्वक आकर उपस्थित हो गया। दीनबन्धु ने मुझसे कहा कि नगर के उस भाग में चलो, जहाँ अंत्यजों की बस्ती है। हम तीनों एक बूढ़े भंगी के द्वार पर खड़े हुए। झोपड़ी में दस वर्ष का एक मातृहीन, दादी-विहीन बालक तपेदिक से बीमार पड़ा था और बूढ़ा उसकी सेवा में जुटा हुआ था। उसकी ओर संकेत करके दीनबन्धु ने युवक से कहा—'देखो, यही भगवान् हैं।' नवयुवक स्तब्ध रह गया। इस बात का उसपर कुछ ऐसा असर हुआ कि उसने व्यापार में दाखिल होकर धनोपार्जन करने का अपना इरादा छोड़ दिया और अन्त में सम्पूर्ण जीवन समाज के दीन-दुखियों की सेवा में ही गुजार दिया। दुःख की बात है कि वह अधिक दिन जीवित नहीं रहा। उपर्युक्त घटना के प्रायः सात वर्ष बाद ही वह इस दुनिया से चल बसा!

दूसरी बात जो मुझे याद पड़ती है, दीनबन्धु के और गुरुदेव

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ, कराची-प्रवास के सिलसिले की, है। बात ऐसी तय हुई थी कि दीनबन्धु जहाज से गुरुदेव के साथ पोरबन्दर जायँगे। दोनों यात्रा के लिये प्रस्तुत होकर जहाज पर चढ़े, लेकिन जब जहाज के छूटने में केवल दस मिनट ही थे तब दीनबन्धु सहसा कह उठे—'गुरुदेव, मुझे क्षमा कीजिये; मैं आपके साथ पोरबन्दर न जा सकूँगा। मैंने अभी अखबार में देखा है कि दक्षिण अफ्रिका से तीन-चार सौ भारतीय दो दिन बाद कलकत्ते पहुँचनेवाले हैं। उन बेचारों का वहाँ क्या हाल होगा—सोचना कठिन है। वे तो किसी को नहीं जानते-पहचानते ? कहाँ रहेंगे, कहाँ खायँगे ? यह सब विचार कर मैंने तय किया है कि यहाँ से सीधे कलकत्ते चला जाऊँ।' गुरुदेव ने मुग्धचित्त से खुशी-खुशी उन्हें जाने की आज्ञा दे दी और अपना आशीर्वाद भी दिया।

शान्तिनिकेतन में एकबार दीनबन्धु से एक ईसाई प्रोफेसर मिले और तीन दिन उनके साथ ही रहे। रविवार के दिन प्रातःकाल प्रोफेसर साहब ने किंचित् दया के साथ कहा—'बन्धु, यहाँ तुम रविवार की साप्ताहिक उपासना न कर पाने के कारण बड़े दुखी रहते होगे। कारण, यहाँ गिरजा तो नहीं है।' दीनबन्धु मौन ही रहे। ठीक उसी क्षण आश्रम की दसवीं कक्षा के कुछ विद्यार्थी क्लास का समय पास जानकर द्वार पर आ खड़े

हुए। दीनबन्धु ने उन सबकी तरफ हाथ से दिखलाते हुए अपने मित्र से कहा—'प्रियबन्धु, दैनिक कहो अथवा साप्ताहिक—मेरी उपासना यही है।'

दीनबन्धु की एक मूर्त्ति सदा मेरे अन्तर में निवास करती है। वह है उनकी शान्तिमयी, स्नेहमयी मूर्त्ति; उनके मुख की वह स्थिर-धीर करुणोज्ज्वल शोभा, जो प्रार्थना के समय कितने ही प्रभात और संध्या के आलोक में मैंने देखी है। शान्ति-निकेतन के उस स्थान में, जहाँ भोर की उपासना के बाद वे टहला करते थे, जब आज भी मैं टहलने जाता हूँ, तब उनकी वही चिर-प्रशान्त मूर्त्ति मेरी आँखों के आगे आ जाती है। कई बार तो ऐसा लगता है, मानों वे स्वयं ही वहाँ उपस्थित हैं और मेरे कन्धे पर सदा की भाँति हाथ रखकर पूछ रहे हैं—'गुरु-दयाल, तुमने ज्यादा क्या किया?' मैं क्या उत्तर दूँ? आँखें हठात् भर आती हैं और तब मन को स्थिर करने के लिये मैं नीचे की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगता हूँ, जो मैंने आज से कई वर्ष पूर्व लिखी थीं—

आज प्रभात में कौन आया?
रात अब ही खतम हुई थी,
किसी ने आकर खटखटाया।

पूछा तब मैंने अन्दर से,

कौन मेरे घर को आया ?

'मैं हूँ' – दिया जवाब उसने–

'तेरा मेहमान होके आया।

क्या करेगा मेरी खातिर ?'

यह कहके उसने मुझे शर्माया।

शान्तिनिकेतन (बोलपुर)] —श्री गुरुदयाल मल्लिक

भारतीय पोशाक में एंड्रूज

—'विशाल भारत' के सौजन्य से

चार्ली एंड्रूज

चार्ली एंड्रूज का मूल्य और महत्त्व भारत के लिये अधिक था या इंगलैंड के लिये, यह कहना तो जरा मुश्किल है; पर उनकी मृत्यु के समाचार ने लन्दन के उनलोगों के हृदयों को गहरी ठेस अवश्य पहुँचाई, जो उन्हें अपना अथवा ब्रिटेन और भारत का केवल सच्चा सखा ही नहीं मानते थे, बल्कि भारत और ब्रिटेन के बीच में स्नेह, सद्भावना और आत्मीयता का एक सम्बन्ध-सूत्र भी समझते थे। हममें से जो लोग उनके जरा निकट आ गये थे और जिन्हें वे कृपापूर्वक अपना मित्र कहने और समझने लगे थे, उनके लिये यह अनुमान करना अब बहुत दुःखदायी हो गया है कि भारत की असली वस्तुस्थिति के बारे में चार्ली एंड्रूज की सहज मुसकुराहट लिये हुए मुद्रा फिर हमारे सामने घंटों नई नई बातें सुनाने को कभी दिखाई देगी। भारत के सभी तरह के लोगों—सरकारी, गैर-सरकारी, काँग्रेसी, लीगी, हिंदू-सभावादी, लिबरल, प्रगतिशील और प्रतिगामी—के सम्बन्ध में वे हमारे उत्सुकतापूर्ण प्रश्नों की झड़ी का सामना करते और यथाशक्ति उनका उत्तर देते; पर उनके मुँह से कभी

किसी के लिये हल्के या निन्दा-सूचक शब्द का प्रयोग हमने नहीं सुना। उनकी वाणी में प्यार, प्रशंसा और अपने पत्र का कुछ ऐसा सम्मिश्रण होता था, जो श्रोताओं को मोह लेता था। जिस प्यार और प्रशंसा के साथ वे अपनी बातचीत के दौरान में थोड़ी-थोड़ी देर बाद 'गुरुदेव' 'बापू' या 'महात्माजी' शब्दों का प्रयोग करते थे, उसका स्मरण कर अब भी कलेजे में एक कसक-सी उठती है।

अब हम खुलकर छोटी-छोटी बातों पर उनके साथ हँस भी तो नहीं सकते। टोप, कोट, बटन, कागज या कोई पत्र या अखबार की कतरन के इधर-उधर रक्खे जाने से ही वे इतने अस्थिर हो जाते थे कि देखते ही बनता था। हमलोग जब उन्हें बेहाल देखकर कहकहा लगाकर हँसते, तब वे भी हमारी ही तरह हँसने लगते—मानों अपनी सारी झुँझलाहट भूल गये हो। अगर कहीं किसी अच्छे काम के लिये जाना होता या किसी की सहायता का काम करना होता, तो वे धीरे-धीरे चलना भूल जाते और मानों दौड़ने लगते। इस समय अगर कोई किसी बहाने या कारणवश देर करता, तो उनकी स्नेहमयी झुँझलाहट देखने ही लायक होती थी। उनके इसी स्वभाव को देखकर एक बार हमारे एक पादरी मित्र ने कहा था कि सबसे पहले और सबसे अन्त में उनका हृदय पहले बोलता था और मुँह बाद में

खुलता था। दीन-दुखियों की सहायता से अधिक उन्हें शायद अपने जीवन में और कुछ भी प्रिय या अभीष्ट न था। उनकी सहायता का सवाल जब उनके सामने आता था तब वे अपनी सारी चिन्ताएँ, अपनी चीजें, काम और खुद अपने-आपको भूल जाते थे। इस तरह की छोटी-छोटी न जानें कितनी बातें हैं; जिन्होंने उनकी महत्ता को आत्मीयों के लिये आदर और श्रद्धा से कहीं अधिक स्नेह का कारण बना दिया।

पर, जो लोग उनके वैयक्तिक सम्पर्क में नहीं आये, वे उनकी राजनीतिक और धार्मिक विषयों पर लिखी पुस्तकों से ही उनके बारे में बहुत-कुछ जान सकते हैं। उनकी सबसे बाद में प्रकाशित हुई पुस्तक "THE INNER VOICE" (अन्तर्ध्वनि) है, जो उनकी आत्मा की छाप को काफी स्पष्ट रूप में पाठकों के सामने रखती है। उन्होंने मुझसे कई बार प्रभु ईसू खीष्ट की जीवनी लिखने का जिक्र किया! एक बार तो शान्ति-निकेतन से लिखे गये अपने एक पत्र में उन्होंने यहाँ तक लिखा कि प्रभु खीष्ट की जीवनी की रूप-रेखा तैयार कर ली है और उसका काम भी एक तरह से शुरू कर दिया है, पर बाद में मालूम हुआ कि उनके जीवन की यह सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा पूरी न हो सकी और जीवनी का काम उनकी बीमारी की वजह से आगे न बढ़ सका। भले ही वे प्रभु खीष्ट की जीवनी न लिख

सके हों, पर अपनी क्षमता और जानकारी के अनुसार भरसक उन्होंने अपने जीवन मे उनके लोक-कल्याण के सिद्धान्तो पर अमल किया है। दूसरे शब्दों में उन्होंने प्रभु के एक सच्चे भक्त का जीवन बिताया है। दक्षिण अफ्रिका की शर्तबन्द कुली-प्रथा (Indentured Labour) के हटाये जाने पर महात्मा गान्धी और स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले ने 'टाइम्स' में चार्ली एंड्रूज के सहयोग की प्रशंसा करते हुए जो पत्र छपवाया था, उससे भी हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। अपने जीवन के अन्तिम दिन तक वे जो कुछ करते रहे हैं, उससे विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्हें प्रभु के चरणों मे ही चिरशान्ति प्राप्त हुई होगी।

किन्तु, ब्रिटेन और भारत के सबसे बड़े मित्र की हैसियत से उनका इस समय हमारे बीच से चला जाना दोनों देशो के लिये एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है। दोनो ही देशो को उनकी इतनी जरूरत शायद ही पहले कभी रही हो, जितनी आज है। भारत और ब्रिटेन के बीच मैत्री स्थापित करने और सद्भाव बनाये रखने के लिये चार्ली एंड्रूज ने जो कुछ किया, इस छोटे-से लेख मे उनका वर्णन करना सम्भव नहीं, पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर भी भारत जिन थोड़े-से अँगरेजों को याद करेगा या जिनके स्मारक भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में रहेंगे, उनमें से चार्ली एंड्रूज भी एक होगे। यह कहना तो अत्युक्ति

होगा कि उन्होंने भारत और ब्रिटेन के संघर्ष को बचाया; पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन्होंने उसे कई बार टलवाया और कई बार वह सम्भावना से भी बाद में आया। ऐसे कार्यों का विशेष विज्ञापन नहीं हुआ—क्योंकि चार्ली एंड्रूज ऐसा नहीं चाहते थे—पर जानकार लोगों से उनके ऐसे कार्यों का महत्त्व छिपा नहीं है।

चार्ली भारत को अधिक प्यार करते थे या इंगलैंड को, इस बारे में कई बार हमलोगों को भ्रम हो जाता था। एक बार संध्या को उन्होंने मुझसे कहीं चलने का वादा किया था। नियत समय पर जब मैं उन्हें लेने को पहुँचा, तब देखता हूँ कि वे अजीब परेशानी मे हैं। सारे घर में कागज, कपड़े, जूते और न मालूम क्या-क्या सामान बिखरे पड़े हैं और चार्ली इधर-उधर चक्कर लगा रहे हैं। मुझे देखकर एक शुष्क मुसकुराहट के साथ बोले—'ओह, तुम हो! अच्छा हुआ, तुम आ गये। मुझे तुमसे कुछ काम लेना था, अभी।'

मैं कुछ समझ न सका। मैंने कहा—'लेकिन इस समय तो हमें······के यहाँ चलना है। सुबह तय जो हुआ था।' वे जैसे भूली हुई बात को याद करते हुए बोले—'हाँ, चलना तो था; लेकिन अब नहीं चल सकेंगे। तुम जाओ, मेरी तरफ से माफी माँग लेना। मैं भारत जा रहा हूँ। मुझे वहाँ जल्दी पहुँचना चाहिये।'

और, फिर बैठकर मुझे समझाने लगे कि भारत में उनकी जरूरत इंगलैंड से ज्यादा क्यों है। मैंने जब हँसी-हँसी में कहा कि क्या भारत आपको अपनी जन्मभूमि से भी प्यारा है, तब बालक की-सी सरल हँसी के साथ वे बोले—'लेकिन, मेरी जन्म-भूमि भले इंगलैंड हो, मातृभूमि तो भारत ही है।' और जोर से खिलखिलाकर हँस पड़े। इसके बाद मेरे चेहरे के भाव पढ़ने की कोशिश करते हुए बोले—"जब मैं भारत में होता हूँ तब इंगलैंड की याद आती रहती है, पर ज्योंही इंगलैंड पहुँचता हूँ, दूसरे ही दिन से भारत की चिन्ता सताने लगती है। वहाँ के दीन-दुखियों और पीड़ितों की मूक वाणी मुझे जैसे सात समुद्र पार से अपनी ओर खींचती हुई मालूम होती है। फिर भला मैं यहाँ कैसे बँधा रह सकता हूँ ? यहाँ मेरी कोई विशेष जरूरत भी तो नहीं है।'

इस घटना के दूसरे या तीसरे दिन शायद चार्ली एंड्रूज भारत के लिये चल पड़े। स्टेशन पर जब मैं और उनकी बहन उन्हें छोड़ने गये, तब यह पूछने पर कि फिर कब इंगलैंड लौटेंगे, उन्होंने हम दोनों की आँखों में आँखें गड़ाकर कहा—'प्रभु जानता है। मैं क्या कह सकता हूँ ? जब प्रभु लायगा और भारत आने देगा, मै फिर चला आऊँगा।

हममें से किसी को स्वप्न में भी इस बात का गुमान न

था कि हम उन्हें अब फिर कभी नहीं देख सकेंगे और हमसे वे सदा के लिये बिछुड़ रहे हैं! पर हमारे लिये यही क्या कम सन्तोष और गर्व की बात है कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण भी उस देश के लाभार्थ बिताये. जिसके प्रति उनका देश काफी अपकृत और दोषी कहा जाता है? उनका भोलापन सरलता, विनम्रता, मिलनसारी और सेवा-भाव स्मरण कर आज आँखों में आँसुओं के साथ ही होठों पर मुसकुराहट भी छा जाती है। पर, अब तो हमारे लिये उनकी स्मृति ही शेष है।

—एक अँगरेज पत्रकार

दीनबन्धु

कुछ हफ्ते पहले कलकत्ते में पहले आपरेशन से अच्छे होने के बाद मैं सी० एफ० एंड्रूज से मिला—उनके कई दोस्त उन्हें इसी नाम से पुकारते थे, कुछ उन्हें चार्ली कहते थे और बाद में मैं उन्हें 'बड़ादादा' कहने लगा था। उनके इतने अधिक नजदीक रहनेवालों में से भी कोई उन्हे कभी 'दीनबन्धु' नहीं कहता था। यह नाम चाहे उनके लिये कितना ही ठीक हो, मगर कभी उनके साथ लगा नहीं रहता था—तो मुझे आशंका हुई कि यद्यपि वे हमें वापस मिल गये हैं, तथापि हमारे साथ बहुत दिनों नहीं रह सकेंगे। मगर उनकी मृत्यु ने इतना बड़ा स्थान खाली कर दिया है कि जिसकी कल्पना करना भी मुश्किल है। एक मित्र ने, जा जानते हैं कि उनकी मृत्यु से मुझे कितनी बड़ी क्षति पहुँची है, मुझे हमदर्दी-भरे एक खत में लिखा है कि मुझे ऐसा लग रहा होगा, जैसे मैंने अपने प्यारे पिता को खो दिया है, बिल्कुल सही है। वैसे मैं उम्र में काफी छोटा होने के कारण उनके पुत्र-जैसा ही था और उनके भव्य दाढ़ी भी थी, फिर भो मेरे लिये उन्हें पिता समझना बिल्कुल ही

असम्भव था। वे तो बूढ़े-से-बूढ़े और बच्चे-से-बच्चे, धनी-से-धनी और गरीब-से-गरीब, बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे—सबके दोस्त थे। जब वे मेरे लड़के के साथ 'कुबलिया खाँ' पढ़ते और अपनी खुशी में उसकी खुशी मिला देते. जब वे गांधीजी के पास बैठकर औपनिवेशिक स्वराज्य या स्वाधीनता की चर्चा करने लगते, या डा० जान मार्ट से ईसाइयत के प्रति गांधीजी की वृत्ति का विवेचन करने लगते, तो इन सब प्रसंगों पर उनमें वही बालकोचित सरलता और सत्य के प्रति निष्कपट निष्ठा दिखाई देती थी। मुझे २२ बरस पूर्व का वह प्रातःकाल अच्छी तरह याद है, जब बापू ने उनसे मुझे मिलाया था। उसी क्षण से उनके छलछलाते हुए प्रेम और सौहार्द ने यह असम्भव कर दिया है कि मैं उन्हें अपने से 'बड़ा' समझूँ।

× × × ×

३६ साल पहले जब उन्होंने हिन्दुस्तान में आने का निश्चय किया, तब उनके कई दोस्तों ने उन्हें डाँटा था। उन्होंने 'ट्रिपुल फर्स्ट' लिया था और केम्ब्रिज के डीन थे। अगर वे स्वदेश में रहते, तो एक दिन केम्ब्रिज मे इतिहास के सबसे बड़े प्रोफेसर बनने का सम्मान पाते, या राजनीति में आते, तो किसी दिन प्रधान-मंत्री बन जाते। पर वे अपने निश्चय से न डिगे। 'भारत बुला रहा है'—ये शब्द थे, जो वे बोलते थे और इतने गहरे

विश्वास के साथ कि सारा विरोध खत्म हो जाता था। दो-तीन बरस पहले जब मित्रों ने देखा कि उनकी तन्दुरुस्ती गिर रही है और बुढ़ापे का असर उनपर पड़ रहा है, तब उन्होंने उनसे कहा कि आप इंगलैंड के किसी शान्तिपूर्ण स्थान में बैठकर अपनी चमत्कारिणी लेखनी का लाभ संसार को पहुँचायँ। इसपर उन्होने कहा—"नहीं, हिन्दुस्तान को छोड़कर और कहीं जा बैठने का मैं खयाल भी नहीं कर सकता।" जिस सर्जन ने उनके दोनों आपरेशन किये, उसने जब उन्हें सुझाया कि आप इंगलैंड या योरप में कहीं जाकर अपना दूसरा आपरेशन करायँ, तब उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा—"नहीं।" वे यह जानते थे कि श्रीघनश्याम दास बिड़ला, जिन्होने उनकी लम्बी बीमारी का तमाम खर्चा उठाया, उनके हवाई-जहाज से जाने और 'घर' पर आपरेशन कराने का खर्चा भी खुशी से उठा लेंगे, लेकिन वे अपना असली घर कैसे छोड़ते? "जो कुछ मेरा होना होगा; हिन्दुस्तान में ही हो।"—वे बोले। मुझे नहीं मालूम कि कोई अँगरेज हिन्दुस्तान को उनसे ज्यादा प्यार करता होगा और उसने हिन्दुस्तान की ज्यादा अच्छी सेवाएँ की होंगी। इसका कारण उनकी भावुकता नहीं थी। उनके अन्तःकरण में भावना के स्रोत उमड़ते थे सही; लेकिन उन्होंने भावना के वश होकर यह निर्णय नहीं किया था, बल्कि वे हिन्दुस्तान को जानते थे, कई

बरसों से उसे जानते और अधिकाधिक चाहते चले आ रहे थे। वे जानते थे कि मेरे देशवासियों ने हिन्दुस्तान के साथ क्या पाप किया है, चाहे वह जान-बूझकर हो या अनजान में, और उन्होने उसका प्रायश्चित्त करने का निश्चय कर लिया था। वे सच्चे अर्थ में 'तपस्वी' थे।

× × × ×

उनके प्रायश्चित्त के रूप विविध थे। पहला तो यह कि वे सजग होकर अपने जीवन में प्रतिदिन प्रयत्न करते थे कि अँगरेजों से उच्चता की शेखी मिटा दें। बाढ़, अकाल और भूकम्प-पीड़ित हिन्दुस्तानियों की—स्वदेश में तथा अफ्रिका और केनिया में, फीजी और न्यूजीलैंड में, ट्रिनिडाड और टेंगेनिका में दुखी प्रवासी भारतीयों की—सेवा करना उसका दूसरा रूप था। अपने ईसाई-धर्म-प्रचारक (पादरी) भाइयों को आँखें खोलकर हिन्दुस्तान की उस सम्पन्न आध्यात्मिक विरासत को दिखाना जिसपर उन्होने ध्यान नहीं दिया, जिसे गलत समझा और लोगों को गलत बताया और उन्हे ईसा की सच्ची राह दिखाना उनके प्रायश्चित्त का तीसरा रूप था। मेरी जानकारी में उन्होंने किसीको ईसाई-धर्म स्वीकार नही कराया; लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि उन्होंने लाखों का हृदय जीत लिया था। आज

सैकड़ों अपने इस पथप्रदर्शक, दार्शनिक और मित्र के बिछोह पर चुपचाप आँसू बहा रहे हैं।

× × × ×

और, अपने अंगीकृत प्रायश्चित्त के पवित्र अनुष्ठान के लिये उनके पास सम्पन्न साधन भी थे। अहिंसा उनके पास थी, अधिकांश लोगों से कहीं अधिक मात्रा में। गीता के भक्त का प्रधान गुण—'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः'—उन्होंने अपने जीवन में एकाकार कर लिया था। 'परमानन्द' के उल्लेख मात्र से प्रफुल्लता उनके चेहरे पर दमक उठती थी और दर्शक पर यह छाप पड़ती थी कि इस गीता-वचन के पालन के फलस्वरूप अन्तरात्मा से यह प्रकाश प्रकट हो रहा है। इंजील के कथन—'नम्रतापूर्ण उत्तर क्रोध को जीत लेता है'—का आदर्श पेश करनेवाला उनसे बढ़कर मुझे कोई नहीं मिला। इन सब गुणों से उन्हें तपस्या की तलवार की धार-जैसी पैनी और सँकरी राह पर चलनेवाले व्यक्ति को क्रास धारण करने से (धर्म की दीक्षा लेने से) जो बल मिलता है, वह उन्हें मिला था।

× × ×

और, उस क्रास (धर्म) का कितना गुरुतम भार उनपर था, यह मुझसे छिपा नहीं है। जो मगरूर थे, वे उन्हें 'जाति-बहिष्कृत' मानते थे; जो समझदार थे, वे उनकी पीठ पीछे

हँसते और कहते थे कि वह तो भोला-भाला है। लेकिन उनकी नम्रता और जीवन-कार्य के प्रति उनकी अनन्यनिष्ठा उन्हें कभी भयभीत और निराश नहीं करती थी। वे सब प्रकार के अपमानों, जिल्लतों, कड़ी बातों और तानों को मुसकुराते हुए सहन कर लेते थे। अगर लेब्रेडोर के डाक्टर ग्रीन फैल ने उस भौतिक सहिष्णुता का सर्वोच्च नमूना दिखाया, जिसे मानवता के सेवकों को प्राप्त करना चाहिये, तो सी० एफ० एंड्रूज ने मानसिक सहिष्णुता का सर्वश्रेष्ठ आदर्श प्रस्तुत किया।

वे ऐसे शख्स नहीं थे, जो किसी के इन्कार करने से हतोत्साह हो जाते हों। कोई काम उनके लिये छोटा या नीच नहीं था। वे सन्देशवाहक बन जाते, वाइसराय के पास या कतई झुकने की वृत्ति न रखनेवाले कुपित अफसर के पास चिट्ठी ले जाते। लेकिन अधिकांश मौकों पर वे लोगों को मानवीय वृत्ति को प्रभावित करने में सफल हो जाते थे और अद्भुत काम कर दिखाते थे। दक्षिण-अफ्रिका में उन्होंने जनरल स्मट्स को बार-बार परेशान किया था। जब आखिरी समझौते पर दस्तखत होनेवाले थे, गांधीजी को तार मिला कि कस्तूरबा सख्त बीमार हैं। मगर गांधीजी ने, जबतक जनरल स्मट्स समझौते पर दस्तखत न कर दें तबतक, जाने से इन्कार किया। चार्ली स्मट्स के पास दौड़े गये; उनपर गहरा असर पड़ा और

उन्होंने समझौते पर दस्तखत करके दोनों को डरबन जाने के लिये छोड़ दिया। १९३३ के पिछले यरवदा जेल के उपवास के वक्त उन्होंने दिन-रात एक करके सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल को इतना तंग किया कि आखिर उन्होंने गांधीजी को छोड़ दिया। १९३२ मे, प्रधानमंत्री के निर्णय-सम्बन्धी उपवास में, वे कभी लार्ड हैलिफेक्स के पास हैं, तो कभी सर सेम्युअल होर और कभी मिस्टर मैकडोनल्ड के पास और इस बात का बराबर ध्यान रक्खा कि फैसले का एलान करने में पल-भर की भी देर न हो। दूसरे कई अनगिनत मौकों पर उन्होंने शान्ति-स्थापना का कार्य अंगीकार किया और परिणाम को सोचने की झंझट में पड़े बगैर उसको पूरा किया। मैंने तो उन्हें दूत-कार्य करते हुए ही नहीं, बल्कि नकल करना, टाईप की हुई प्रति को पढ़ना वगैरह थकानेवाले क्लर्की के काम करने को भी तैयार देखा। उनकी आत्मा एक तारे के समान थी और उनपर छोटे-से-छोटे भी कार्य निर्भर करते थे।'

× × ×

यह नहीं कि उन्होंने भूलें नहीं कीं। वास्तव में वे अत्यन्त मानवी थे और बहुत काफी भूलें करते थे; लेकिन उनसे अच्छा उनका प्रतिकार करना कोई नहीं जानता था। उनमें एक किस्म की अति विश्वास कर लेने की टेव थी, जिससे वे कभी-कभी

ऐसे झमेले में फँस जाते थे कि निकलना मुश्किल हो जाता था। कभी-कभी वे लफंगों के चक्कर में आ जाते थे। मगर वे ह्यूगो के उस पादरी की ही तरह थे, जिसे अपनी शमई के चुराये जाने पर उल्टा आनन्द हुआ था। कबीर ने कहा है—

कबिरा आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप-ठगा सुख होत है, और ठगे दुख होय॥

—२—

उनके दूसरे आपरेशन के पहले—जिसके कारण उनकी मृत्यु हुई—जब वे बीमारी से धीरे-धीरे अच्छे हो रहे थे, तब दो-तीन बार मैं उनसे मिला था। दूसरे आपरेशन के बाद तो रोज सवेरे और शाम का चन्द मिनटों के लिये मिल लेता था। पहले आपरेशन के बाद अच्छे होने पर जब मैं पहली बार उनसे मिला, तब उन्होंने कहा—'पिछली रात बड़ी शान्ति और आनन्द रहा।'

'बार-बार मेरे दिमाग में जो भाव आता रहा और जिसे मैं कभी भुला नहीं सकता, वह था सन्त जान के सन्देश के कुछ अंश और भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के १९ श्लोक। वे अब भी मेरे मन मे हैं, और अहा, कल यहाँ 'बापू' को पाकर तो कितना आनन्द हुआ!'

× × × ×

दूसरे अवसर पर उन्होंने कहा—'यह स्वास्थ्य-सुधार तो अद्भुत हुआ ! फिर भी हम फिजूल इतनी चिन्ता कर-करके दुबले होते हैं !' अपोजल के इस कथन के-से विश्वास के साथ कि 'सिर के बालों तक की गिनती है', वे कहने लगे—'जितना भगवान मुझे जीवित रखना उचित समझता है, उससे एक दिन भी इधर या उधर नहीं होगा। इस बात को जान लेना मानों वरदान पाना है।' यह कहते हुए उन्होंने मुझे प्रगाढ़ आलिंगन में बद्ध कर लिया और बड़बड़ाते हुए कुछ शब्द कहे, जिन्हें मैं सुन न सका। वे बोले—"आज हम उपनिषद् की वह महान् प्रार्थना करें—असतो मा सद्गमय; तमसो मा ज्योतिर्गमय; मृत्योर्मा अमृतं गमय।'

× × × ×

तीसरे अवसर पर उन्होंने कहा—'मेरे मन पर दो-एक बोझ रहे है, उन्हें मैं उतार दूँ। मुझपर इतने ज्यादा कृपालु उस छोटे डाक्टर को तो तुम जानते ही हो। वह बापू के दस्तखतोंवाला उन्हींका चित्र चाहता है। मैंने वचन दिया है कि मैं दिला दूँगा। तुम याद रखकर उन्हें यह पहुँचा देना।' मैंने नाम पूछा, मगर उन्हे मालूम नहीं था। उन्होंने नर्स को बुलाने के लिये मुझसे कहा। उसे भी मालूम नहीं था; लेकिन उसने पता लगा लेने का वादा किया। जब नर्स ने मुझे नाम बताया, तब मुझे कलकत्ते

से विदा हो जाना पड़ा। मगर मैंने कहा—'मैं इसका ध्यान रक्खूँगा कि उन्हें वह चित्र मिल जाय।' तब वे बोले—'हाँ, एक बात और रह गई। तुम जानते हो, अपने मित्र···ने फिलस्तीन के काम के लिये मुझे·····रुपया दिया था। मै वहाँ जाने को था। दो बार तो मै चला ही जाता, मगर सचमुच जा न सका। हाँ, मैं यहूदियो की कभी-कभी सेवा करता रहता हूँ। किसी भी तरह हो, रुपया अभी काम में नहीं आया था कि तुम्हे मालूम है ··मेरे पास अपनी मुश्किलात लेकर आई और उसमे से आधा मैंने उन्हें दे दिया। अब मेरे पास थोड़ा-सा रुपया है, जो बैंक में है, उससे यह घाटा पूरा हो सकता है। तुम यह सब बात उन मित्र को समझाकर कह देना कि अगर वे चाहें, तो मैं सब-का-सब रुपया उन्हें लौटा दूँ, वरना अगर इजाजत दें, तो मैं अपनी वह थोड़ी-सी रकम अपनी बहनों को दे दूँ। लेकिन बापू से पूछना कि उनका क्या खयाल है। कुछ भी हो, उन मित्र को जरूर लिखना। मुझे उस धन को इस तरह खर्च करने का कोई हक नहीं था और मुझे इसका पश्चात्ताप है।'

× × × ×

अन्तिम अवसर पर तो उनके दिमाग में रामगढ़-कांग्रेस का प्रस्ताव ही ओतप्रोत था। वे कहने लगे—'मै जानता हूँ कि विजय सुनिश्चित है', और फिर एकदम यूरोपीय स्थिति पर

चर्चा करने लगे। लेकिन मैंने यह परिश्रम करने से उन्हें रोका। तब वे बोले—'मैं गीता पर अधिकाधिक विचार करता रहा हूँ। कितना सुन्दर विचार है यह कि पाप के साथ मनुष्य का शाश्वत युद्ध है। भौतिक धरातल पर जो युद्ध होते हैं, हम उन्हें जानते हैं; मगर इनसे कहीं जबरदस्त युद्ध हमारे आध्यात्मिक धरातल पर हो रहे हैं और इनमें हम अविराम रूप से लड़ रहे हैं।'

× × × ×

हम देख सकते हैं कि उन्होंने अपने चारों ओर कैसा वातावरण बना लिया था और उनके मन में कैसे विचार और प्रार्थनाएँ आती-जाती थीं। दूसरे आपरेशन के दिन उनके परीक्षा-काल के एक घंटे पहले मैं उनसे मिला। मैंने उन्हें बापू और राजकुमारी अमृतकौर के सन्देश दिये और सबकी प्रार्थनाएँ पहुँचाईं।

तब वे मुसकुराये और बोले—'इनलोगों ने मेरी दाढ़ी-मूँछें बना दी हैं! सब सफाचट!!' मैंने जवाब दिया—'आपको याद नहीं, गुरुदेव को भी अपनी दाढ़ी-मूँछें खोनी पड़ी थीं, पर उनका कुछ नहीं बिगड़ा।' तब उन्होंने कहा—'महादेव मुझे कुछ भी हो जाय, तुम उन छोटे डाक्टर को मत भूलना। बापू के हस्ताक्षर-सहित उनका फोटो उन्हें मिल जाय।' अगर
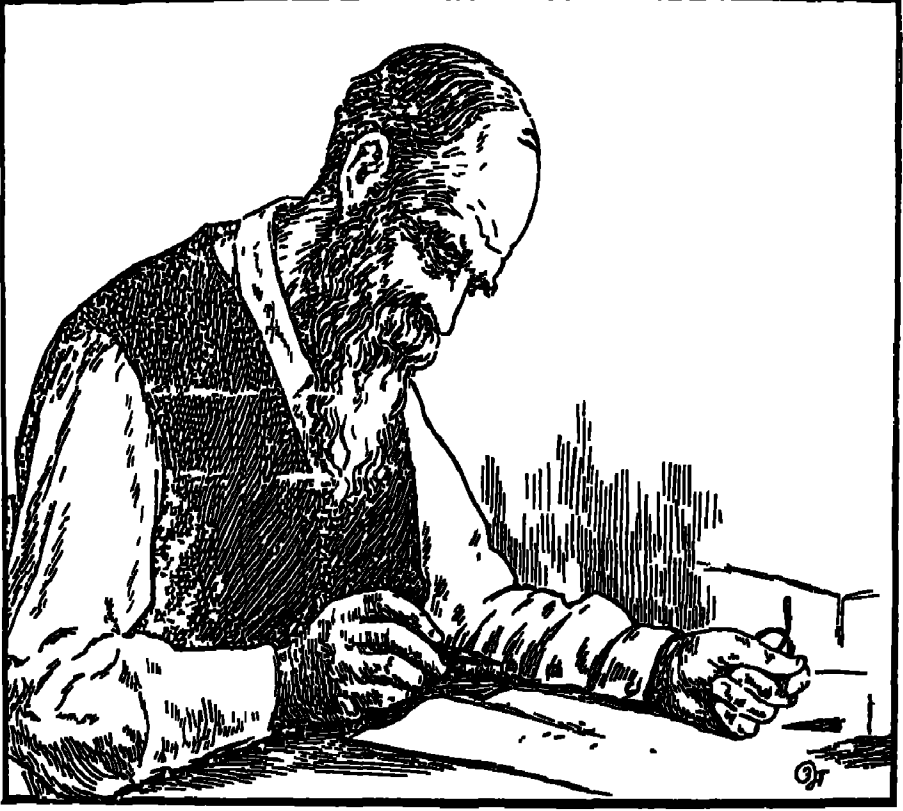
दीनबन्धु—लिखते समय

सुकरात यह भूल जाता कि उसे मुर्गा वापस देना है, तो सी० एफ० एंड्रूज डाक्टर का ऋण भूल जाते! मुझे कहते शर्म आती है कि मै अपने साथ फोटो नहीं ले गया; पर उनका यह ऋण अब चुका दिया जायगा। पर वे तो अब उन्हें जो दवा दी गई थी, उसका असर महसूस कर रहे थे और इसलिये उन्होंने कहा—'बस, अब मैं तो अपने ईश्वर के साथ सोने के लिये जा रहा हूँ।'

× × × ×

रोज मैं और कलकत्ते के व्यापारी उनसे मिलते; पर हम उन्हें बातचीत में कभी-कभी ही लगाते। वे कहते—'आपलोगों को यहाँ पाना एक बरकत है।' और आँखें मूँद लेते या पादरी साहब से प्रार्थना गाने को कहते। उन्हें मालूम था कि उनके एक प्यारे दोस्त डा० पैटन मेरी तरह सुदूर दक्षिण से उनके पास उनकी संकट की घड़ियों में रहने के लिये आ गये थे। हम दोनों के साथ वे भी उनसे मिलने चले थे। मगर उनसे बात करने को हिम्मत नहीं होती थी। आखिरी शाम को उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—'कल, उम्मीद है, मैं अच्छा हो जाऊँगा और पैटन से बात कर सकूँगा। उनसे कह देना।' मगर यह नहीं हो सका। वास्तव में ये ही आखिरी शब्द थे, जो मैंने उनके मुँह से सुने, क्योकि आखिरी दिन तो वे आधे

बेहोश थे। शान्त चेहरे पर वेदना, कराहट या आह का लेश भी नहीं था। हाँ, उनके अनन्त में लीन होते समय उसपर एक अगम्य शान्ति की छाया अवश्य थी!

—३—

हालाँ कि वे एक विचरणशील यहूदी की तरह इधर-उधर सब जगह घूमते रहते थे, फिर भी उनको अनेक पुस्तकें लिखने की फुर्सत मिल जाती थी! बहुत पहले १९०८ में उन्होंने कहा था—'मुझे किसी बात से इतनी व्यथा नहीं हुई, जितनी ईसाई-धर्म-प्रचारकों (पादरियों) द्वारा हिन्दू-धर्म का एक ही तरफ का झूठा चित्र दिखाने से हुई। जो चीज अच्छी और ऊँची है, हिन्दुस्तान की ईसाई संस्थाओं मे उसके लिये सहानुभूति की कमी बतलाकर उन्होंने उनपर गैर-ईसाइयत का दोष लगाया था। ('नार्थ इंडिया हैंड बुक्स आफ इंगलिश चर्च एक्सपेन्शन' में) वे पादरी से आरजू करते हैं कि वे अपना 'बड़प्पन'—अपना 'साहबपना' हटा दें और कहते हैं—'अगर हम चाहते हैं कि हम देश की जनता के हृदय और आत्मा से अभिन्नता स्थापित करें, तो हमें यह आशा तो क्या ख्वाहिश भी नहीं करनी चाहिये कि वे हमारी जीवन-कोटि के बराबर आ जायँ, बल्कि लगातार यह आशा और इच्छा करनी चाहिये कि हम खुद उनकी कोटि के-से हो जायँ।' आगे उन्होंने कहा—

'देशी भाषा सीखने के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि विचार, संस्कार, स्वभाव और भाषा में भी देशीपन अपनाया जाय।' यह पहलू बहुत दिन तक कायम नहीं रह सका। स्वर्गवासी श्रीसुशीलकुमार रुद्र तथा मुंशी जकाउल्ला के साथ रहने के दिन भी आये, जिनसे उनको बहुत लाभ हुआ। उन्होंने उपनिषदों का अध्ययन किया, केम्ब्रिज के मिशन को छोड़ दिया और कवि के कार्य के साथ निकट सम्पर्क स्थापित कर लिया। मुंशी जकाउल्ला पर उन्होंने एक सुन्दर खोजपूर्ण निबन्ध लिखा। उसमें उन्होंने वर्णन किया कि किस तरह ईसा के कट्टर अनुयायी वे खुद और मुहम्मद साहब के अनुयायी मुंशी दिन-प्रति-दिन एक साथ बैठकर एक दूसरे के आध्यात्मिक कोष की वृद्धि करते थे; लेकिन किसी के दिल में यह भावना नहीं आती थी कि इसे अपना मजहब स्वीकार करना चाहिये।

अपनी 'व्हाट आई ओ टु क्राइस्ट' (मै ईसा का किस रूप में ऋणी हूँ ?) पुस्तक में, जो उनका धार्मिक सिद्धान्त-स्कन्ध कही जा सकती है और उनके बरसों के परिपक्व अनुभव के बाद लिखी गई थी, उन्होंने अपना धर्म अन्तिम रूप से बतला दिया था—'एक ईसाई मिशनरी और एक मुसलमान एक दूसरे को अपना धर्म स्वीकार कराने के खयाल के बगैर इतनी घनिष्ठ मित्रता रक्खें, यह उन दिनों कोई साधारण बात

नहीं थी। मुसलमानों में इससे गलतफहमी होने का कुछ अन्देशा था। लेकिन इस मौके पर सुशीलरुद्र की मित्रता अच्छी काम आई, क्योंकि दिल्ली में सब लोग जानते थे कि उन्हे धर्मान्तर के तरीकों से कतई हमदर्दी नहीं है। और, मैंने भी बहुत शीघ्र उनके इस गुण को अंशतः पा लिया। सुशीलरुद्र और दिल्ली के अग्रगण्य हिन्दुस्तानी ईसाई जोरों से यह राय जाहिर करते थे कि चुपचाप होनेवाला असर, जिसमें सच्चे ईसाई जीवन की सुन्दरता है, दुनिया-भर के तमाम प्रचार के लिये दिये जानेवाले उपदेशो के बराबर है'''सुशील मुझसे कहते—चार्ली, कभी-कभी सन्तपाल के वचन पढ़ना मुझे दुष्कर जान पड़ता है। वे तुम अँगरेजो की तरह हैं, जो हमेशा दूसरों को जबरदस्ती अपना दृष्टिकोण मनवाने की कोशिश करते हैं और धर्मान्तर कराने के लिये जमीन-आस्मान एक कर देते हैं।—कामयाबी हासिल करने के लिये ऐसे जोर-जब्र के तरीके खुद ईसा में नहीं थे।'

एक 'फंडामेंटलिस्ट' के पिता के पुत्र होने के कारण उन्होंने जिन्दगी की शुरुआत में ही घोषणा कर दी थी कि मैं राजदण्ड या कयामत में विश्वास नही रख सकता और अपने मा-बाप के साथ-साथ 'होली कम्यूनियन' में शरीक रहना मेरे लिये अब सम्भव नहीं और उस धर्म पर मेरा विश्वास नहीं है।

राजनीति में भी उन्हें विचित्र विरासत मिली थी। उनके पिता की तो यह दृढ़ धारणा थी कि हिन्दुस्तान अँगरेजों का अधिकृत देश है और परमात्मा ने हिन्दुस्तान का नसीब अँगरेजों के हाथ में सौंप दिया है। उन्होंने स्वीकार किया है—'कभी-कभी यह जानने पर बड़ी व्यथा होती थी कि इस विरासत की जड़ें कितनी गहरी गई हैं और उन्हें बिल्कुल निर्मूल कर देना कितना मुश्किल है!' लेकिन हिन्दुस्तान में थोड़े बरस रहने के बाद ही वे दूसरों की गुलामी से उसको पूरे तौर पर छुटकारा दिलाने के हिमायती बन गये। मुंशी जकाउल्ला पर लिखी अपनी पुस्तक में उन्होंने उन चर्चाओं का सार दिया है, जो वे मुंशीजी से किया करते थे। मुंशीजी भी उनसे कहते—'आप नहीं देखते कि हमारे अपने मुल्क इंगलैंड में ही बाहर की कोई शक्ति हमारे कामों में दखल देनेवाली नहीं है? हिन्दुस्तान में बाहरी शक्ति दखल देनेवाली है, इसलिये क्या आप नहीं देखते कि उसकी मौजूदगी के कारण ही बहुत-से झगड़े खड़े हो जाते हैं? क्या दोनों कौमों को अपने मतभेद बिना किसी बाहरी पार्टी को बीच में डाले आपस मे ही फैसला करके नहीं मिटा लेने चाहिये?' तब वे कहते हैं—'विदेशियों की हुकूमत के नीचे रहने मे जो बुराइयाँ विरासत में मिलती हैं, उनकी निस्बत मैंने उनसे अक्सर बातचीत की है; और मैंने यह पुरजोर

खयाल पेश किया है कि हिन्दुस्तान को खुद आजाद होकर अपनी हुकूमत चलानी चाहिये और हजारों मील दूर के किसी शासन-तन्त्र की जंजीरों से ज्यादा बँधा नहीं रहना चाहिये।'

उनकी महत्त्वपूर्ण रचना थी उनका 'स्वाधीनता' पर लिखा हुआ निबंध, जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान की आजादी की घोषणा की जोरदार हिमायत की थी। उन्होंने अत्यन्त मार्मिक व्यथा के साथ कहा है कि इसमें एक पल की भी देर होना असह्य है और अपने निबन्ध को सीली के 'एक्सपैन्शन आफ इंगलैंड' (इंगलिस्तान का विस्तार) में प्रतिपादित दो मूलभूत सत्यों पर अवलम्बित किया है। 'किसी भी राष्ट्र की अधोगति के सबसे जोरदार कारणों में से एक है उसका विदेशी राष्ट्र की अधीनता में अरसे तक रहना'—यह सीली ने लिखा था। सी० एफ० एंड्रूज ने लिखा—'यह तवारीख एक खौफनाक घटना है, जिसका हमें मुकाबला करना है। जितना ही ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्य में गुलामी की हालत मे रहा जायगा, उतनी ही अधिक राष्ट्र की अवनति होती दिखाई देगी। इसलिये हमें जाग पड़ना चाहिये और अपनी जंजीरें तोड़-फेंककर आजाद हो जाना चाहिये।' दूसरी स्वयंसिद्धि ने हम हिन्दुस्तानियो को दुविधा में डाल दिया है—'हिन्दुस्तान-जैसे देश से, जो ब्रिटिश शासन के अधीन है और जिससे हिन्दुस्तान किसी दूसरी

चीज पर निर्भर रहने से असमर्थ बन गया है, ब्रिटिश हुकूमत हटा लेना भी एक ऐसा अकल्पनीय पाप होगा कि जिसे क्षमा नहीं किया जा सकता और सम्भवतः इससे भयंकर-से-भयंकर विपदा उठ खड़ी होगी।' वे कहते हैं कि यह तो एक अनिष्ट-कारी चक्र है—निरन्तर परावलम्बन, शाश्वत पराधीनता, निरंतर परावलम्बन। हिन्दुस्तान को चाहिये कि वह हलचल मचाकर आजाद हो जाय। गांधीजी ने मन्त्र दे दिया है और विदेशी शासन से अहिंसात्मक तरीके पर पूर्ण असहयोग करना ही एकमात्र उपाय है। 'गुलामी का वाक्य'—सी० एफ० एंड्रूज ने लिखा था—'उनके साथ जुड़ी हुई तमाम जिल्लतों के साथ हरएक हिन्दुस्तानी के दिल पर अंकित हो जाना चाहिये। जब तक उस जिल्लत को हम और भी ज्यादा महसूस न करने लगेंगे, तब तक कोई उम्मीद नहीं कि दवा कारगर हो सके।'

हिन्दुस्तान के इस अनुपम 'हितैषी की मृत्यु पर हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों—चाहे वे हिन्दुस्तानी हों या अँगरेज—सब ने ५ अप्रैल को कलकत्ते के सेंटपाल के गिरजे पर एकत्र होकर शोक मनाया। क्या नौकर-चाकर और क्या ड्राइवर लोग, जो रोज उनके स्वास्थ्य की पूछताछ किया करते थे, जानते थे कि जो विदा हो चुके, वे 'दीन-बन्धु' थे, और उन्होंने भी सबके दुःख में दुःख मनाया!

सेवाग्राम, वर्धा]

—महादेव देसाई

दीनबन्धु के जीवन के अंतिम तीन मास

साधु और महात्मा का सत्संग किसी अच्छी करनी का फल होता है। जब परमात्मा की कृपा होती है, जब किसी व्यक्ति के पापों का शमन होता है, तब मंगलमय भगवान् की प्रेरणा से सांसारिक जीव साधु-सत्संग रूपी सुरसरि में मज्जन कर पाता है। मनुष्य अपने स्वार्थ में कभी-कभी दैवी प्रेरणा को भला-बुरा कहता है और अपने सीमित क्षेत्र के भीतर ही दौड़-धूप करता है; पर वह यह नहीं समझता कि कष्टों और हानियों के बादलों के पीछे वास्तविक भलाई का सूर्य छिपा रहता है। शरीर पीड़ित होता है स्वास्थ्य के लिये और मानसिक क्लेश होता है आत्मशुद्धि के लिये—गन्दे वातावरण से बचने के लिये।

× × ×

कढियारी रियासत (हरदोई) की मैनेजरी के दिनों रिश्वत, नजराना, झूठी हुकूमत और अन्य अत्याचारों को बन्द करने के कारण इन पंक्तियों के लेखक के विरुद्ध एक षड्यंत्र रचा गया—उसे जान से मार डालने के लिये। तीन बार पक्की तैयारियाँ की

गईं; पर दैवी कृपा से तीनों बार आक्रमणकारियों का दाव न लगा। जब सब बातों का पता चला, तब चित्त में बड़ी ग्लानि हुई कि परमात्मा विचित्र है। परिश्रम, सद्भावना और ईमानदारी का पुरस्कार प्रस्तावित कतल! आखिर यह अन्धेर क्यों? मन मे घृणा और क्षोभ की लहरें उमड़तीं और भगवान् की उल्टी लीला पर हँसी आती। कभी पूर्व जन्म के संचित पापों के मत्थे अपने प्रस्तावित कतल को मढ़ता, तो कभी किसी भावी दुर्घटना से बचने के लिये कतल की योजना को प्रेरक समझा जाता। यह बात जनवरी, सन् १९४० ई० के प्रारम्भ में समझ में आई कि दीनबन्धु एंड्रूज के अधिक निकट लाने के लिये, उनकी कुछ सेवा करने के लिये, पूर्वजन्म के किन्ही पुण्यकार्यों के कारण, परमात्मा ने कतल कराने की योजना बनवाई। अपने शुभकर्मों के कारण इन पंक्तियो के लेखक को कलकत्ते में रहकर 'विशाल भारत' सँभालना पड़ा, ताकि दीनबन्धु एंड्रूज की तनिक सेवा करने का उसे अवसर मिले। तभी से इन पंक्तियों के लेखक ने आक्रमणकारियों और कतल कराने की योजना बनानेवालों को तबीयत से माफ ही नहीं किया, वरन् हृदय से उन्हें धन्यवाद भी दिया कि उनकी कृपा के कारण रियासत कोर्ट आफ वार्ड्स हुई और मुझे साधु एंड्रूज का सामीप्य मिला। जब सब बातों से एंड्रूज साहब अवगत हुए, तब उनकी आँखें

सजल हो गईं और छाती से लगाकर उन्होंने कहा—'परमात्मा महान् है' (God is great) ।

× × ×

दिसम्बर, सन् १९३९ की बात है। हमलोग कलकत्ते से शांतिनिकेतन गये हुए थे। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने एंड्रूज साहब को हिंदी-भवन में एक घंटे बातें करने के लिये राजी कर लिया था। दोपहर के करीब धीरे-धीरे एंड्रूज साहब हिंदी-भवन की ओर आये। हिन्दी-भवन के एंड्रूज-निकुंज की दशा देखकर उन्होंने कहा—'अबकी साल बगीचे की हालत सुधर जायगी।' फिर हिंदी-भवन देखकर बोले—'विना औजारों के कोई मिस्त्री काम कैसे कर सकता है ? उनके विना काम की आशा करना फिजूल ही है। हिंदी-भवन का शरीर तैयार है। उसमें अब आत्मा की प्रतिष्ठा करनी है। करीब ही एक अतिथि-गृह भी बनाना चाहिये। हिंदी-भवन मे बढ़िया पुस्तकें होनी चाहिये, ताकि रिसर्च का काम हो सके। अलमारियाँ, दरियाँ और पुस्तकें तो जल्द आनी चाहिये।'

'आप तीन-चार दिन के लिये कलकत्ते चलें। एक स्थान पर आपको चाय पिलाई जाय और वहीं पर आप अपने कलकत्ते के मित्रों—सर्वश्री रामदेव चोखानी और भगीरथमल कानो-

डिया—से कह दें कि पुस्तकों, आलमारियों और अतिथिशाला के लिये वे प्रबन्ध करें।'—मैंने मुसकुराते हुए कहा।

'कलकत्ते जाने से मैं घबराता हूँ। मैं कलकत्ते नहीं जाऊँगा। पारसाल अप्रैल में मुझे कलकत्ते रहना पड़ा था। गर्मियों में मेरे लिये कलकत्ता रहना सम्भव नहीं।'—दुखी होकर एंड्रूज साहब ने कहा। बातों के दौरान में उन्हें थकावट मालूम हुई। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी से उन्होंने चाय के लिये कहा। द्विवेदीजी ने शीघ्र ही चाय का लबालब प्याला लाकर उन्हे दिया।

वे चाय पीते और बातें करते जाते थे। चाय पीते समय होठ तो प्याले से लगे रहते, आँखें मित्रों की ओर लगी रहतीं, कान बातें सुनने में व्यस्त थे और हृदय शायद मानवी दुःखों को दूर करने की चिन्ता में तड़प रहा था।

मेरा 'ऐग्जेक्टा' केमरा तो तैयार ही था। चाय की चौथी या पाँचवीं चुस्की जैसे ही उन्होंने ली, वैसे ही उनका फोटो ले लिया गया। वार्त्तालाप की समाप्ति पर फोटो लिये गये। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के हाथ मे चाय का प्याला देकर उन्होंने कहा—'प्याले के साथ बनारसीदास का फोटो मैं बापू को दिखाऊँगा। मालूम है, बापू चाय को जहर कहते हैं; पर बा मेरे लिये चाय बनाती हैं।'

चलते समय उन्होंने कहा—'मैं हिंदी-भवन, हिंदी और

हिंदी-भवन की आवश्यकताओं पर एक लेख लिखूँगा। उसको अधिक-से-अधिक समाचारपत्रों में छपने के लिये भेजना चाहिये, ताकि अधिक-से-अधिक लोगों को हिन्दी-भवन की आवश्यकताएँ मालूम हो जायँ और जल्द-से-जल्द उनकी पूर्त्ति हो।'

× × ×

गुरुदेव के निवास-स्थान के निकट एंड्रूज साहब के निवास को देखकर और विशेषकर उनके पास आनेवाली डाक के पुलिन्दो और उनकी लगन को देखकर मन में अनेक विचार उठे। विश्व की एक विभूति, जो देश और बिरादरी की सीमा से परे हो, जिसके रोम-रोम से स्नेह और सेवा की भावना फूट रही हो और भारतवर्ष की सेवा में जो अनवरत रूप से रत हो, उसे इतनी भी सुविधा न मिले कि कोई स्टेनो-टाइपिस्ट (Steno-Typist) उसके साथ रह सके, तो हमलोगों के लिये कितनी शर्म की बात है! वैसे तो अमीर लोग उनकी विलायत-यात्रा और अन्य कार्यों के लिये धन का प्रबन्ध कर देते हैं; पर उनमें क्रियात्मक कल्पना-शक्ति का इतना अभाव क्यों है कि उनकी समझ में यह नहीं आता कि बूढ़े एंड्रूज साहब को इतनी सुविधा तो कर दी जाय कि वे अपने लेख और पत्रों को बोलकर लिखा सकें।

शान्तिनिकेतन में प्रोग्राम यह बना कि इन पंक्तियों का

लेखक अपने स्टेनो-टाइपिस्ट श्रीजगदीशप्रसाद शर्मा को लेकर प्रति शुक्रवार को शान्तिनिकेतन जाया करे और वहाँ से मंगल की सुबह को कलकत्ते लौट आया करे। दो-तीन दिन प्रति सप्ताह इस प्रकार की सहायता से एंड्रूज साहब अपने पड़े हुए काम को भी कर लेंगे और देशी तथा विदेशी समाचारपत्रों को जो लेख लिखेंगे, उन्हे भी टाइप करके दे दिये जायँगे।

जनवरी, सन् १९४० के पहले सप्ताह में कार्य-भार के कारण शान्तिनिकेतन जाना न हो सका। श्रीहजारीप्रसादजी से मालूम हुआ कि एंड्रूज साहब ने आतुर होकर कई बार पूछा कि मेरे वहाँ न पहुँचने का क्या कारण है? जनवरी के दूसरे सप्ताह से शान्तिनिकेतन-यात्रा प्रारम्भ की गई। कारबन कागज, नोटबुक, पेंसिल, कई दस्ते कागज और टाइपराइटर से जगदीश को सुस-ज्जित कराकर मैं शान्तिनिकेतन जाता और अतिथि-गृह में अड्डा हमारा जमता। पहुँचते ही एंड्रूज साहब के निवास पर हम पहुँ-चते। पहले तो वे मुझे छाती से लगाते और फिर जगदीश को। छाती से लगाते समय उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठता और यह मालूम होता कि माँ ने दुलार करके गोद में लिया है। जब-जब एंड्रूज साहब स्नेह से छाती लगाते, तब माँ की याद आ जाती। मेरा विश्वास दृढ़ हो गया कि एंड्रूज साहब का मातृ-रूप इतना प्रबल है कि परमात्मा ने भूल से उन्हे पुरुष की काया

दी है अथवा उनका पुरुष-रूप तो कोरा संकेतमात्र है। संसार की किसी भी सुसंस्कृत माँ से एंड्रूज साहब कम कोमल और स्नेही न थे।

× × ×

जिन दिनों इन पंक्तियों का लेखक शान्तिनिकेतन में एंड्रूज साहब के काम के लिये रहता, उन दिनों वे कम-से-कम दस घंटे काम करते। हाथ कँपते जाते, पर लिखने में लगे रहते। उधर जगदीशप्रसाद द्वारा टाइपराइटर पर खटखट होती और उनके लेखों की चार-चार कापियाँ निकाली जातीं। कई हफ्तों में बहुत-सा काम सिमट चुका था। फरवरी में जब मैंने उन्हे चाय पीते समय का लिया फोटो दिखाया, तब हँसकर बोले—'तुम बड़े शरारती हो (You are very mischievous.) । इस फोटो की चार प्रतियाँ मुझे दो। एक मैं अपनी बहिन को भेजूँगा, एक बापू को दूँगा और शेष दो कोई और ले लेगा।' मैंने उन्हें चित्र दे दिये; पर पता नहीं, वे उन्हें उचित स्थानों पर पहुँचा सके या नहीं।

फरवरी, सन् १९४० में मैंने उनसे पूछा—'गर्मियों में आप कहाँ रहेंगे ?'

'यहाँ से मैं मार्च में ही चला जाऊँगा। दस-बारह दिन

दिल्ली रहूँगा। दिल्ली में मुझे एक दीक्षान्त भाषण देना है। अगले सप्ताह उसे लिखूँगा और उसे टाइप करा देना।'—वे बोले।

"आप कहें तो जगदीश को लेकर मैं दिल्ली आ जाऊँ। आपकी सेवा करने का मुझे अवसर मिलेगा। मई-जून में आप सोलन रहेंगे। वहाँ भी मैं रह सकता हूँ। आपकी सेवा करूँगा और 'विशाल भारत' का सम्पादन वहीं से करता रहूँगा।'—मैंने विनयपूर्वक आग्रह किया।

'हाँ-हाँ, 'विशाल भारत' की बात खूब कही। 'विशाल भारत' को तुमने सँभाला है, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है।'—बातों का ताँता उन्होंने पूरा।

'पर मैं चाहता हूँ कि पं० बनारसीदास साल में छः महीने बारी-बारी से कलकत्ते रहें और शेष छः महीने मैं रहूँ।'

'ठीक है। कहो तो महाराजा टीकमगढ़ को मै लिख दूँ कि बनारसीदास को साल में पाँच-छः महीने के लिये कलकत्ते भेज दिया करें। चाहे हर तीसरे महीने आ जाया करें।'—चिन्ता की भावना से उन्होंने कहा।

'आप इस बारे में अभी न लिखें। मैं ज़ुबानी चतुर्वेदीजी से कह दूँगा। वैसे उनका पूरा सहयोग तो है ही। एक प्रकार से हम दोनों ही 'विशाल भारत' के सम्पादक हैं। कानूनी जिम्मे-दारी मेरी है और पूरी देखभाल भी मुझे करनी है। श्री रामा-

नन्द बाबू के व्यक्तित्व, उनके पुत्र केदार बाबू के स्नेह और 'विशाल भारत' से आत्मीयता के कारण ही मैंने 'विशाल भारत' को सँभाला है।'—मैंने विनय की।

'तुम्हें मालूम है कि मिस्टर रामानन्द चटर्जी और मेरा क्या सम्बन्ध है?'—एंड्रूज साहब ने पूछा।

'आप और वे पुराने घनिष्ठ मित्र हैं और मैत्री का आधार देश-सेवा और सचाई है।'—मैंने साधारण-सा उत्तर दिया।

'नहीं, नहीं, इतनी ही बात नहीं है। मैं उन्हें बड़े भाई की भाँति मानता हूँ और मुझे भारतवासियों के सम्पर्क में लाने का बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को है।'—सगर्व एंड्रूज साहब बोले।

'कैसे?'—प्रश्नसूचक आकृति से मैंने उनकी ओर देखा।

'सन् १९०५-६ की बात है। दिल्ली से मुझे एक सेन का पादरी होकर पंजाब जाना पड़ा। लाहौर के 'सिविल ऐंड मिलिटरी गजट' ने हिन्दुस्तानी पढ़े-लिखे लोगों के विरुद्ध एक लेख लिखा। लेख का सार था कि भारतवर्ष के मुट्ठी भर बाबू लोग ही ब्रिटिश शासन का विरोध करते हैं, भारत की जनता तो ब्रिटिश शासन के साथ है। लेख व्यंग्यात्मक और अपमान-जनक था। उसे पढ़कर मुझे बड़ा क्षोभ हुआ, और मैंने 'मिलि-टरी चैपलेन' के नाम से एक लेखमाला उत्तर में लिखी। मेरे लेखों से अँगरेजों में बड़ी सनसनी फैली और हिन्दुस्तानियों को

उससे कुछ सन्तोष हुआ। रामानन्द बाबू की तेज नजर से वे लेख कैसे बच सकते थे ? उन्होंने मेरा पता चला लिया और उसके बाद मेरे मिशन में जितनी सहायता उनकी कलम और उनके पत्र ने दी है, उतनी और किसी ने नहीं। फिजी, मारिशस, ब्रिटिश गायना और अफ्रिका की मेरी यात्राओं और मुझसे सम्बद्ध भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में रामानन्द बाबू ने मेरा जो हाथ बँटाया है, उसे मैं जानता हूँ।'

'कलकत्ते जाकर उनसे कह देना कि वे मुझसे यहाँ आकर मिल लें। कलकत्ते मैं नहीं जाऊँगा। डर है, कहीं बीमार न पड़ जाऊँ।'—बाल-स्वभाव से एंड्रूज साहब ने ऐसी बातों में एक घंटा लगा दिया।

कई सप्ताह तक शान्तिनिकेतन की यात्रा का क्रम चलता रहा। एंड्रूज साहब की इच्छा थी कि 'माडर्न रिव्यू' के लिये साल भर छपने योग्य बारह लेख लिखकर टाइप करा लें और पन्द्रह-बीस लेख अमेरिका और इंगलैंड के पत्रों के लिये भी तैयार करें। 'विशाल भारत' के सम्बन्ध में एक दिन उन्होंने डेढ़ घंटे बातें की और आश्वासन दिया कि वे साल मे छः लेख केवल 'विशाल भारत' के लिये लिखेंगे।'

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और इन पंक्तियों के लेखक का विचार कई वर्षों से यह था कि इंगलैंड, अमेरिका और आस्ट्रे-

लिया के लिये एंड्रूज साहब से कुछ परिचय-पत्र लिये जायँ, ताकि यदि कभी विदेश-यात्रा सम्भव हो सके, तो उनसे विदेशों मे वार्त्तालाप और विचार-विनिमय की सुविधा मिल सके। इस सिलसिले में मैंने एंड्रूज साहब से जिक्र किया और उन्हें बताया कि कई अँगरेज मित्रों में से मेरे एक प्रिय मित्र मिस्टर एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड हैं। ब्रेल्सफोर्ड के नाम से वे उछल पड़े और कहने लगे—'ब्रेल्सफोर्ड तो मेरे भी प्रिय मित्र हैं। जब उनको चिट्ठी लिखो, तब जिक्र करना।' मार्च या अप्रैल में बीस-पचीस परिचय-पत्र लिखने के लिये उन्होंने वचन दिया और फिर काम पर जुट गये।

× × × ×

नियमानुसार शुक्रवार को जगदीशप्रसाद के साथ शान्तिनिकेतन जा रहा था। जल्दी में कलकत्ते से दैनिक पत्र न ले सका। बर्दवान पहुँचकर समाचारपत्र खरीद कर पढ़ने लगा और उसमे पढ़ा—'पेचिश से बीमार होकर एंड्रूज साहब कल जनरल हास्पिटल में भर्ती हो गये। यूरोपियन वार्ड में वे हैं।' समाचार पढ़कर स्तम्भित रह गया। जिस कलकत्ते से वे मार्च से सितम्बर तक दूर रहना चाहते थे, वही कलकत्ता उन्हें अपनी ओर खींच लाया। मन में अनेक शंकाएँ उठने लगीं। बर्दवान से ही हमलोग लौट आये।

अगले दिन मैंने उन्हें अस्पताल में जाकर देखा। पेचिश के इंजेक्शन उन्हे दिये जा रहे थे। पेचिश और चेचक रोग अँगरेजों के लिये प्राय: प्राणघातक हुआ करते हैं। इस कारण एंड्रूज साहब के बारे मे और भी चिन्ता थी। चारपाई पर उन्हे पड़े देखकर दिल और भी भर आया। जैसे ही एंड्रूज साहब की नजर मेरी ओर हुई, वैसे ही उन्होंने अपनी भुजाएँ फैलाईं। पैर छूकर मैं उनकी ओर झुका। उन्होंने छाती से लगा लिया मुझे। उनका मातृरूप जागरित हो गया। धीरे-धीरे पीठ पर थपकी देते हुए धीमे स्वर में कहते रहे—'अच्छा हुआ। तुम आ गये। मेरा आशीर्वाद (That is good. You have come. My blessings to you.)।'

मैंने तबीयत के बारे में पूछा, तो उदास होकर कहा कि परमात्मा की इच्छा होगी, वही होगा। पास में बाइबिल रक्खी थी। कुछ पत्र करीब ही मेज पर रक्खे थे। कमरे में एक ओर उनका सामान रक्खा था। नर्स तत्परता से सेवा मे जुटी थी। मिलने-जुलने की कुछ कड़ाई-सी थी। आधे घंटे तक बातें करता रहा। डाक्टर और नर्स से मालूम हुआ कि उनकी हालत चिन्ता-जनक है। कमजोरी बहुत है और कुछ विक्षिप्तता-सी भी है।

बातों के दौरान में उन्होंने पूछा—'क्या रामानन्द बाबू यहीं हैं ?' (Is Ramanand Chatterjee here ?)

'हाँ, यहीं हैं।'

'उनसे कह देना कि मुझसे मिल लें।' (Please tell him to see me.)

'क्या घनश्यामदास यहीं हैं?' (Is Ghanshyam Das here ?)

'मैंने अखबार में पढ़ा है कि वे दिल्ली में हैं।'

'क्या युगलकिशोर बिड़ला यहीं हैं।' (Is Jugal Kishore Birla here ?)

'मेरे अनुमान से यहीं हैं। अभी टेलीफोन से मालूम करके बताता हूँ।'

'अच्छा, तो उनसे कह देना कि मुझसे मिल लें।' (Then please tell him to see me.)

इस बीच नर्स ने मुझे टोका कि बहुत बातें करना ठीक नहीं। पैर छूकर मैं कमरे से बाहर होने लगा। उनकी प्रेमभरी आँखें मेरी ओर लगी रहीं, मानों वे चाहती थीं कि मैं उन्हे छोड़कर न जाऊँ।

'विशाल भारत'-कार्यालय में पहुँचकर मैने सबको खबर कर दी। प्रेसीडेंसी जनरल अस्पताल मैं रोजाना ही जाता। अस्पताल के कर्मचारी टेलीफोनों का जवाब देते-देते परेशान थे। उन्हे क्या मालूम कि विश्व की एक विभूति की देखभाल उनके

एंड्रूज साहब नाश्ता करते समय

—प० श्रीरामजी शर्मा के सौजन्य से

सुपुर्द थी। पेचिश से उन्हे कुछ चैन मिला, तो पेशाब की नली की तकलीफ हो गई। प्रोस्टेट ग्लांड के चीरे की बात थी। ७० वर्ष की उम्र में प्रोस्टेट ग्लांड का चीरा सफल कैसे हो सकेगा—इन अँगरेजी एलोपैथ डाक्टरों को कौन समझावे और किस बूते पर समझावे कि प्रोस्टेट ग्लांड की तकलीफ के लिये आयुर्वेद या होमियोपैथी की शरण लेनी चाहिये। पर एंड्रूज साहब की कमजोरी ने उनकी प्राण-रक्षा उस समय की। प्रोस्टेट ग्लांड का चीरा न होकर एक साधारण-सा आपरेशन किया गया और पेशाब की सुविधा के लिये एक नली लगा दी गई। पर इस साधारण-से आपरेशन से ही उनके मन और शरीर पर बुरा असर पड़ा। पेशाब का जहर एक प्रकार से ऊपर उठकर उनके दिमाग पर असर करता। इस साधारण-से आपरेशन के बाद जब मैं उनसे मिला, तब उनकी हालत बहुत खराब थी। रुक-रुककर उन्हें बेहोशी आती थी। आवाज तो निकलती ही न थी। कान को उनके ओठो पर लगाना पड़ता था।

दो-तीन बार, जब उनकी हालत कुछ सुधरी, तब उन्होंने मुझसे कहा—'गुरुदेव, बापू और मेरी बहिन को मेरे बारे में पत्र लिखो।' गुरुदेव और बापू को तो मैंने पत्र लिख दिये; पर मुझे उनकी बहिन का पता मालूम नहीं था। मैंने नाम और पता पूछा, तो गड़बड़-शड़बड़ नाम बताया। मैंने हिज्जे पूछे, तो

फिर गड़बड़ी की और उँगली अपने सिर पर रखकर बड़े दुखी हुए; फिर कुछ उत्तेजित होकर उन्होंने कलम अपने हाथ में लेकर लिखने की चेष्टा की। उन्होंने पता लिखा था; पर वे ठीक नहीं लिख सके। अँगरेजी वर्णमाला के आधे से ज्यादा अक्षर लिख गये और झल्लाकर कागज फेंक दिया। मैंने उन्हें सान्त्वना दी कि मैं किसी प्रकार पत्र इंगलैंड भेज दूँगा।

चलते समय पूछा—'क्या भगीरथमल कानोड़िया यहीं हैं? रामानन्द बाबू कहाँ हैं?'

मैंने कहा—'रामानन्द बाबू को आँखें खराब हैं और कानोड़ियाजी यहीं हैं। वे भी चलने-फिरने में असमर्थ हैं; पर उन्होंने कहा है कि खर्च की वजह से कोई तकलीफ न होने पाये।'

'अच्छा तो रामानन्द बाबू आने की तकलीफ न करें। भगीरथमल मुझसे मिल जायँ।'—कातर ध्वनि में वे बोले।

कई दिन बाद मैंने उनसे पूछा कि आपको किसी चीज की जरूरत तो नहीं है, तो बड़ी विनम्रता से बोले—'मेरे पास लिफाफे नहीं हैं और न लिखने के पैड।'

'मैं कल लेता आऊँगा।'—मैंने उत्तर दिया।

'फ्रीक्सले पैड लाना।'—धीमे स्वर में उन्होने कहा।

'अच्छी बात है, और कोई चीज?'—मैंने पूछा।

'मुझे दो ओजरेन रोज चाहिये।'—(I want two ograne daily)"—लड़खड़ाकर उन्होंने कहा।

ओजरेन क्या चीज है, मैं सोचने लगा। फिर मैंने पूछा—"क्या आप संतरा (orange) चाहते हैं ?"

"हाँ, हॉ, संतरा और एक ग्रेप फ्रूट भी।" (Yes, yes, orange and one grape fruit also.)

नर्स से पूछने पर मालूम हुआ कि उन्हें संतरों और ग्रेप फ्रूटो की जरूरत है।

× × ×

प्रेसीडेंसी-जनरल हास्पिटल से निकलकर 'विशाल भारत' कार्यालय तक का पॉँच-छः मील का रास्ता पैदल ही नाप गया। एक शराबी की भॉति नशे मे चूर चला जाता था। विक्टोरिया मेमोरियल और अन्य बड़ी-बड़ी इमारतें लोगो की धनलिप्सा की प्रतीक खड़ी थीं। शहर मे चहल-पहल थी और विश्व का एक उज्ज्वल रत्न अस्पताल में पड़ा कराह रहा था। भगवान् का वह भक्त साधारण व्यक्ति नहीं था। अखबारों में उनकी बीमारी की साधारण-सी खबर निकल जाती थी। हिन्दी की रिपोर्टिंग-कला अपनी सूझ-बूझ के लिये बदनाम है, पर अँगरेजी पत्रकारों ने भी एंड्रूज साहब को बीमारी के समाचार प्रतिदिन नहीं भेजे। बीमारी के बुलेटिन तो निकले ही नहीं। 'विशाल भारत'-

कार्यालय में आकर मैंने कई पत्र बड़े खिन्न मन से लिखे और जो पत्र चतुर्वेदीजी को लिखा, उसमें तो हिन्दुस्तानी अमीरों की खासी खबर ली गई।

नर्स से एक दिन बातें हुईं, तो मालूम हुआ कि चूज के सत (Essence of chickens) से एंड्रूज साहब को बड़ा लाभ होगा। डाक्टर ने आदेश दिया है कि चूजो का सत उन्हें दिया जाय। अपने पास उन दिनों पैसे न थे, इसलिये श्री सोहनलाल पचीसिया से ढाई रुपये लिये और एक शीशी खरीदी। पचीसियाजी की वह पसीने की कमाई होगी, जो एक महापुरुष की औषध में काम आई।

जब उनकी हालत कुछ अच्छी होने लगी, तब मैंने कहा—'आप अच्छे होकर चाहे सोलन रहें या दक्षिण-अफ्रिका चलें। मैं आपका खिदमतगार और प्राइवेट सेक्रेटरी होकर चलूँगा। बड़े भाग्य से आपकी सेवा करने का सौभाग्य मिला है। पं० बनारसीदासजी का तार आया है। आपके स्वास्थ्य के बारे में पूछते हैं।'

एंड्रूज साहब प्रसन्न होकर कहने लगे—'बनारसीदास आवें, तो जरूर मिलें। अगर मैं अच्छा हो जाऊँ, तो तुम्हें अपने साथ जरूर रख लूँगा।'

एक दिन नर्स ने कहा—'पादरी एंड्रूज की अस्सीवीं वर्ष-

गाँठ परसों (ता० ११ मार्च को) है। मुझसे उन्होंने कहा था।'

'अस्सीवीं या सत्तरवीं ?'—मैंने गलती को ठीक करते हुए कहा।

'मुझे नहीं मालूम। मुझसे तो उन्होंने ही कहा था—' नर्स ने कहा।

जगदीश, 'योगी' के श्रीराजेन्द्र शर्मा और अयोध्यासिंह अस्पताल पहुँचे। बाजार से हमलोगों ने डेढ़ रुपये के फल और कुछ फूल ले लिये थे। कमरे में पहुँचकर अभिवादन किया और पैर छुए। परमात्मा से प्रार्थना की कि दीनबन्धु चिरायु हों। गरीबों की भाँति परम श्रद्धा से अस्पताल के उस कमरे में हम-लोगों ने उस महापुरुष की ७० वीं वर्षगाँठ मनाई। नर्स भी उस सादा—पर प्रेमपूर्ण—उत्सव में शामिल हुई। एंड्रूज साहब प्रेम-विभोर चारपाई पर पड़े हमारी ओर देखते रहे। चलते समय मैंने उनसे कहा—'मुझ जैसे लाखों आदमियों के बलिदान से भी भारत आपसे उऋण नहीं हो सकता।'

जब एंड्रूज साहब की हालत सुधरने लगी, तब मैंने कहा कि पन्द्रह दिनों के लिये मैं आगरा जाना चाहता हूँ। आज्ञा हो तो चला जाऊँ।

'जरूर जाओ। अब तो मैं अच्छा हो रहा हूँ।'

× × ×

आगरे से लौटकर आया, तो एंड्रूज साहब को बहुत अच्छी हालत में पाया। वे खूब चलते-फिरते थे। भूख भी उन्हें खूब लगती थी। मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। और एक घंटे तक बातें कीं। मैंने कहा—'अब आप स्वास्थ्य सुधारने दक्षिणी अफ्रिका चले जायँ। वहाँ की जलवायु आपको अनुकूल पड़ती है।'

'हिन्दुस्तान को छोड़कर मैं कहीं नहीं जाऊँगा। पेशाब के लिये जो नली लगाई थी, वह निकाल ली गई और थोड़ी-बहुत मुझे शिकायत है ही। इधर डाक्टरों का मत है कि प्रोस्टेट ग्लांड का आपरेशन कर दिया जाय।'—उन्होंने अन्यमनस्क भाव से कहा। प्रोस्टेट ग्लांड के चीरे का सवाल फिर खड़ा हो गया, यह सुनकर मैं चौंक गया।

'क्या, वह रोका नहीं जा सकता?'—मैंने आतुरता से पूछा।

'डाक्टरों का मत है कि अगर अभी आपरेशन न होगा तो तीन महीने बाद मेरी हालत खतरनाक हो जायगी और आपरेशन सफल न हो सकेगा। अभी उसके सफल होने की सम्भावना है। हाँ, मुझे मेरे फोटो की आठ-आठ प्रतियाँ दो। यहाँ अस्पताल में मुझे देनी हैं; कुछ रोगी भी चाहते हैं कि मेरे फोटो की एक-एक प्रति उन्हे मिले।'

'तो आपके नये फोटो और ले लूँ? कल कैमरा लेता आऊँ?' मैंने प्रसन्न होकर पूछा।

'जरूर लाओ। मुझे बहुत-से फोटो बाँटने हैं।'

यहाँ पर यह लिखना अनुचित न होगा कि जब महात्मा गाँधी ने एंड्रूज साहब को अस्पताल में देखा, उसके बाद से उनकी देख-भाल की व्यवस्था और भी अच्छी हो गई। भारतीय डाक्टरों और नेताओं की दौड़ें-सी लगने लगीं। महात्माजी ने लाला गिरिधारीलालजी को उनकी सेवा मे रख दिया, ताकि दर्शकों पर कुछ नियंत्रण रक्खा जा सके। वैसे लार्ड बिशप और अस्पताल के कर्मचारियों का पूरा उद्योग था।

३० मार्च को केमरा लेकर मैं पहुँचा, तो पचास कदम से एंड्रूज साहब पहचाने भी नहीं गये। आपरेशन की खातिर उनकी दाढ़ी और मूँछें मुड़ी हुई थीं। वे पहचाने न जाते थे। केमरा देखकर बड़े दुखी हुए और बोले—'मेरा फोटो मत लो। मेरा असली रूप अब नहीं है। मैं नहीं चाहता कि लोग मुझे इस रूप में देखें।'

मुझे ऐसा भान हुआ कि दाढ़ी और मूँछों के मुड़ाने से उन्हें काफी क्षोभ हुआ था।

उन्होंने हाथ पकड़कर मुझे बैठाया और महात्माजी का तार दिखाया। तार का मजमून था—'सफल आपरेशन के लिये हम सब प्रार्थना कर रहे हैं। इतवार को समाचार मिलने का प्रबन्ध कर रहा हूँ। प्यार। —मोहन।'

(All praying for successful operation. Arranging have news on Sunday. Love. Mohan.)
यह तार एंड्रूज साहब को २१ मार्च को ५ बजे शाम को मिला।

कुर्सी पर बैठकर उन्होंने महात्माजी के तार को एक बार फिर दिखाया और कहा—'मुझे अपने बारे में बिल्कुल चिन्ता नहीं है। बापू जब अनशन कर रहे थे, तब मैंने डाक्टरों को दिखाने को कहा, तब महात्माजी ने खिन्न होकर कहा था कि चार्ली, तुम्हें ईश्वर में विश्वास नहीं है। उस बड़े डाक्टर का खयाल करो। बापू ने मेरा मोह-भंग किया। और, आज मैं उस बड़े डाक्टर (ऊपर को उँगली उठाकर) का खयाल कर रहा हूँ। लार्ड बिशप मेरे पिता के समान हैं। वह बड़ा डाक्टर जो करेगा, सो ठीक करेगा। यदि मैं मरता हूँ, तो उससे भारत का और संसार का हित होगा।' कहते-कहते वे भावावेश में आ गये।

जब चलने लगा, तब छाती से लगाकर बोले—'मेरा तुम्हें अनेक आशीर्वाद !'

सीढ़ियों तक पहुँचाने आये। मैंने पैर छुए। एकटक खड़े देखते रहे। विचलित मन से मैंने भी उन्हें देखा और मन में संकल्प-विकल्प उठने लगे कि ईसा के साक्षात् रूप एंड्रूज का दर्शन फिर शायद ही हो। और हुआ भी ऐसा ही। ५ अप्रैल को वे समाधिस्थ हो गये। निर्वाण-पद उन्हें मिल गया। वर्ण-

भेद, पीड़ितों की चीत्कार और गरीबों के दुःखों को लादकर वे प्रभु की शरण में चले गये !

सेन्टपाल गिरजे मे दीनबन्धु का शव अर्थी पर सजा-सजाया रक्खा था। फूलों और हारो से अर्थी ढँकी हुई थी। मोमबत्तियाँ जल रही थीं। दिलों में तूफान-सा उठा हुआ था। लार्ड बिशप ने दीनबन्धु के लिये प्रार्थना की। बाइबिल के कुछ स्थल पढ़कर सुनाये। हृदय में वे सीधी चोट करते। गिरजे के चित्र और प्रभु ईसा का बलिदान याद हो आता। हृदय ने जोर बाँधा। दीनबन्धु की याद में दिल अपनी सहानुभूति आँखों द्वारा भेज चुका। निस्तब्धता छा गई और फिर कुछ लार्ड बिशप ने कहा। गिरजे का वातावरण पवित्रता और प्रेम से परिपूरित था। ऊपर खिड़कियों से मानों भगवान् अपने भक्त के निर्वाण पर मुग्ध हो रहे थे।

अर्थी के साथ जुलूस निकला। म्लानमुख हम सब अपर सरकूलर रोड के कब्रिस्तान तक आये और एंड्रूज साहब की अर्थी को धरती-माता के अंचल में रख दिया।

लुटे-से हमलोग घरों को लौटे। एंड्रूज साहब की सेवाएँ भारत के लिये अपार हैं। उनका बखान करने के लिये यह अवसर नहीं है; पर जिसने महात्माजी के जीवन को दो बार बचाया, उससे हम उऋण कैसे हो सकते हैं? हम-जैसे लाखों

व्यक्ति भी उनके पासंग नहीं। हमलोग लौट रहे थे और कब्रि-स्तान की चहार दीवारियाँ गरदन उठाये भीड़ की ओर मूक भाषा में कह रही थीं—

फ़ातहा देंगे न पानी पै भी दो रोज के वाद ;
तादरे गोर हैं जो खाक उड़ाते आये।

कलकत्ता —श्रीरामशर्मा, सम्पादक 'विशाल भारत'

दीनबन्धु से प्रथम परिचय

जब दीनबन्धु एंड्रूज के प्रथम परिचय का स्मरण करता हूँ तो मन में लज्जा छा जाती है।

हम शान्ति-निकेतन में थे। श्रीगुरुदेव (रवीन्द्रनाथ) के साहित्य और स्वभाव से आकृष्ट होकर दीनबन्धु, शान्ति-निकेतन को ही अपना पार्थिव एवं आध्यात्मिक घर बनाने की तैयारी कर रहे थे; अथवा कर चुके थे। १९१४ के दिन थे वे।

हमने देखा कि रवि ठाकुर श्रीएंड्रूज की बहुत ही इज्जत करते थे और एंड्रूज तो गुरुदेव से पागल भक्त के-जैसे पेश आते थे। इन दोनों के ये प्रेम-प्रसंग देखकर हृदय हर्षोत्फुल्ल हो जाता था। श्रीएंड्रूज के साथ इनके मित्र पियर्सन भी रहते थे। दोनों के स्नेह की घनिष्ठता भी हमारे आदर का विषय थी। श्रीपियर्सन तो श्रीएंड्रूज से भी अधिक पारदर्शक थे, और विद्यार्थियों के मानों कंठमणि ही थे। एंड्रूज पियर्सन से अधिक प्रभावशाली थे, किन्तु पियर्सन की नाईं विद्यार्थियों के साथ घुल-मिल नहीं जाते थे।

शान्ति-निकेतन की व्यवस्था-चर्चा में श्रीएंड्रूज और

पियर्सन पूरे दिल से शरीक होते थे। श्रीएंड्रूज की यह आदत थी कि वे चर्चा में बार-बार गुरुदेव के वचनों का हवाला दिया करते। हमलोगो को यह बुरा लगता। क्या हमलोग गुरु-देव को कम पहचानते हैं? और, अगर गुरुदेव के वचन से ही फैसला करना हो, तो फिर हमलोगों को प्रबंध-समिति की जरूरत ही क्या रही? हमलोगों की निजी बातचीत में श्रीएंड्रूज की अनेक विचित्रताओं की भी चर्चा होती थी। हमलोगों ने निश्चय किया कि ये एक बड़े प्रच्छन्न साम्राज्यवादी हैं। 'हिन्दु-स्तान के हित की बातें तो बहुत करते हैं; लेकिन दिल से तो केवल इंगलैंड का ही हित चाहते हैं। हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ लोगों के पास ऐसे धूर्त लोगों को रखकर अँगरेज-सरकार अपना राज्य मजबूत करना चाहती है।' अँगरेज-सरकार और अँगरेज व्यक्ति को शक की निगाह से देखना हमारी राष्ट्रीयता का सर्वप्रथम सिद्धांत था।

श्रीएंड्रूज की मूर्त्ति सामने आते ही हमारे दिल की भल-मनसाहत जाग्रत् हो जाती थी; किंतु उनके पीछे हम उनपर शंका ही करते थे। जो शिक्षक श्रीएंड्रूज के साथ बहुत मीठी-मीठी बातें करते थे और पीछे उनके बारे में सब किस्म की शंकाएँ प्रकट करते थे, इनकी वृत्ति देखकर मैं हैरान हो जाता था। किंतु मन में उनके प्रति प्रशंसा ही रहती थी, क्योंकि हम

मानते थे कि मायावी के साथ मायावी बनना ही उत्तम नीति है। श्रीगुरुदेव से ये सब बातें कहने की किसीकी हिम्मत नहीं थी। गुरुदेव चाहे जितने मिलनसार हों, तो भी अंत में जाकर 'ॲरिस्टोक्रैट' (उच्चवर्गीय) ही तो ठहरे ! हम उनसे कुछ कहने गये और कहीं उन्होंने डॉट दी तो ?

१९१५ के जनवरी या फरवरी के दिन होंगे। कर्मवीर मोहनदास करमचंद गांधी दक्षिण अफ्रिका से स्वदेश लौटे हुए थे। वे शान्तिनिकेतन आनेवाले थे। गांधीजी की फिनिक्स पार्टी कब की शान्तिनिकेतन में बस चुकी थी। चार्ली एंड्रूज अपने प्यारे 'मोहन' के भाई बन चुके थे और इसलिये फिनिक्स पार्टी के वे दादा थे।

जब गांधीजी शान्तिनिकेतन आये तब शान्तिनिकेतन का उत्साह तो अक्षय तृतीया के सागर के जैसा उमड़ रहा था। श्रीक्षितिमोहन सेन ने उस दिन उपवास रक्खा था। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि भारत-माता के इस महान् पुत्र के स्वागतोत्सव पूर्णतया संपन्न होने के बाद ही मैं खाऊँगा। गांधीजी शाम को या रात को आये और दूसरे दिन प्रभात होने के पहले ही वे शान्तिनिकेतन के घर के हो गये। उनसे बातें करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं होता था। दुनिया-भर के अनेक सवालों की चर्चा करने के बाद श्रीएंड्रूज की चर्चा भी हमने कर ली।

प्रतिनिधि मैं ही था। मैंने गांधीजी से कहा कि आप श्रीएंड्रूज को अपना भाई समझते हैं। परंतु उनके बारे में हमारी राय कुछ अलग है। हमें यह अनुभव हो चुका है कि श्रीएंड्रूज इंगलैंड का भला चाहते हैं। गांधीजी ने तुरंत पूछा कि इसमें क्या बुराई है? वे अँगरेज तो हैं ही। फिर, भला वे इंगलैंड का हित क्यों न चाहें?

मैं कुछ शर्मिन्दा-सा हो गया। फिर मैंने कहा कि वे जैसे अपने को भारतहितैषी बताते है वैसे नहीं हैं। शायद जाली आदमी हैं।

गांधीजी ने कहा—'मेरा अनुभव ऐसा नहीं है। एंड्रूज एक नेक आदमी हैं और नेकीपरस्त भी हैं।

अब तो मुझे दिल की पूरी-पूरी बात कहनी ही पड़ी— 'देखिये बापूजी, आप तो बड़े आदमी हैं। जो लोग आपके पास आते हैं, वे अपनी ढाल का उजला बाजू ही आपकी तरफ रखते हैं। हम छोटे लोग ही उसे सब तरफ से देख सकते हैं। ढाल का दूसरा बाजू कितना काला और मैला है, यह हम ही देख सकते हैं। इसलिये आपको हमारे जैसों की राय पर भी ध्यान देना चाहिये।'

गांधीजी ने तुरंत कहा—'यह तो हो सकता है। किन्तु मै भी आदमियों को पहचानने का दावा कर सकता हूँ। कोई

आदमी मुझे आसानी से धोखा नहीं दे सकता। और, एंड्रूज तो मेरे इतने नजदीक आ गये हैं कि मैं उन्हें नहीं पहचानूँ, यह तो नामुमकिन है। हाँ, श्रीएंड्रूज हैं तो अँगरेज। अँगरेज जहाँ जायगा, अपना प्रभुत्व जमाये बिना नहीं रहेगा। उनके स्वभाव की यह खूबी समझकर आपको उसे बरदाश्त करना चाहिये। वे निर्मल हैं और पुण्यपुरुष हैं। श्रीएंड्रूज को हिन्दुस्तान की सेवा-द्वारा इंगलैंड की सच्ची सेवा करनी है। वे इंगलैंड को सच्चे हृदय से चाहते हैं; इसलिये इंगलैंड के हाथों होनेवाला हिन्दुस्तान के प्रति अन्याय उनके लिये असह्य हो जाता है। अगर वे इंगलैंड को नहीं चाहते तो इस प्रकार हिन्दुस्तान की सेवा करने के लिये उद्यत नहीं होते।'

'तुम जो उनपर इलजाम लगा रहे हो, उसके लिये तुम्हें सबूत देना होगा।'

मैंने कुछ सोच-विचारकर दो एक टूटे-फूटे सबूत पेश कर दिये। किंतु गांधीजी के दिल पर उनका कुछ भी असर नहीं हुआ।

उस दिन मैं बड़ा अस्वस्थ होकर अपने कमरे को लौटा। गांधीजी ने जो दृष्टि बताई वह उन दिनों हमारे पास थी ही नही। हम रावण और विभीषण को ही पहचानते थे। यहाँ तो शुद्ध मानवता को पहचानना था। मैंने गांधीजी से इतना ही कहा कि आपने एक नई दृष्टि बताई है। उस दृष्टि से श्रीएंड्रूज

की तरफ देखने की कोशिश करूँगा और अपने मत को बार-बार परखता रहूँगा। इस वक्त इतना ही कह सकता हूँ।

मैंने मन में बहुत-कुछ सोचा। श्रीएंड्रूज से बहुत परिचय बढ़ाया। किंतु उनसे कभी यह नहीं कहा कि किसी समय आपके प्रति मेरे मन मे घोर शंकाएँ रह चुकी हैं।

एक दिन ऐसी ही कुछ बातें हो रही थीं। बात-चीत के सिलसिले मे बिलकुल स्वाभाविकतया श्रीएंड्रूज ने कहा—'मुझे हिन्दुस्तान का नेता या गुरु नहीं बनना है। मैं अँगरेज हूँ, नम्र सेवक बनकर ही मैं हिन्दुस्तान की सच्ची सेवा कर सकता हूँ। मैं ऐसे अँगरेजों को जानता हूँ जो हिन्दुस्तान में आकर गुरु, नेता या मालिक बनकर हिन्दुस्तान के लोगों को उपदेश देने लगते हैं। मुझे वैसा काम नहीं करना है। हिन्दुस्तान के लोगों का उद्धार हिन्दुस्तान के लोगों द्वारा ही होगा। उद्धार का रास्ता वे ही ढूँढ़ेंगे और तय करेंगे। हिन्दुस्तान के लोगों की जो कुछ सेवा मुझसे बन सके, वह करना मेरा काम है। वह सेवा भी हिन्दुस्तान के लोग जिस तरह मुझसे लेंगे उसी तरह मुझे करनी है।'

इतनी बातें सुनने के बाद मेरा दिल साफ हो गया और मैं श्रीएंड्रूज को दुनिया के श्रेष्ठ पुरुषों में गिनने लगा। जैसे-जैसे उनकी मानवता से मेरा परिचय बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनके प्रति मेरा आदर भी बढ़ता गया।

आज दर्द इसी बात का है कि उनकी तरफ से सब तरह का प्रोत्साहन होते हुए भी मैंने उनके सत्संग का लाभ अधिक क्यों नहीं उठाया? कभी-कभी वर्षों में उनसे मिलता था और अनेक विषयों पर हमारी चर्चाएँ होती थीं; लेकिन मुझे उनके समय का हमेशा खयाल रहता था और मेरा काम भी मुझे ज्यादा बैठने नहीं देता था। आज जब उनका सत्संग अलभ्य हो गया है, उनकी दी हुई एक किताब—'दी क्रीड ऑफ क्राईस्ट'—पढ़ रहा हूँ और इस तरह उस महान् आत्मा का सत्संग प्राप्त कर रहा हूँ।

श्रीएंड्रूज के बारे में लिखने लायक बहुत कुछ है। यहाँ तो केवल उनसे प्रथम परिचय का संस्मरण ही शब्दबद्ध करना था।

—आचार्य काका कालेलकर

मानवता का सच्चा सेवक

सी. एफ. एंड्रूज की मृत्यु के रूप में न केवल भारत ने, बल्कि मानवता ने अपनी एक सच्ची सन्तान और सेवक को खो दिया। फिर भी उनकी मृत्यु पीड़ा से छुटकारा और संसार में जिस मिशन को लेकर वे आये थे, उसकी पूर्त्ति ही कही जायगी। वे उन हजारों लोगों के हृदय में जीवित रहेंगे, जिन्होंने उनकी रचनाओं को पढ़कर या उनके वैयक्तिक सम्पर्क में आकर कुछ भी लाभ उठाया है। मेरी राय मे तो चार्ली एंड्रूज महान् और सर्वोत्तम अँगरेजों से एक थे और चूँकि वे इंगलैंड की एक अच्छी सन्तान थे, भारत की भी अच्छी सन्तान हुए। जो कुछ उन्होंने यहाँ किया, सब मानवता और प्रभु ईसामसीह के लिये ही। अबतक मुझे सी. एफ. एंड्रूज से उत्तम मनुष्य या ईसाई नहीं मिला है। भारत ने उन्हे 'दीन बन्धु' की उपाधि दी, जिसके वे सभी तरह के दीन-दलितो के सच्चे मित्र होने के कारण पूर्ण अधिकारी थे।

सेवाग्राम]

—मो० क० गांधी

भारत-भक्त दीनबन्धु एंड्रूज

श्रीएंड्रूज के निधन का समाचार सुनकर मुझे गहरी ठेस पहुँची। वे उन महाप्राण लोगों में से थे, जिनके निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्यों मुझे प्राप्त हुआ है। उनका सम्बन्ध उन विशालहृदय अँगरेज के दल से था, जो सदा भारतीयों के साथ न्याय किये जाने के पक्ष में रहे हैं। उनका हृदय बड़ा कृपालु एवं उदार था और भारतीयों के साथ गहरी सहानुभूति थी। महात्मा गांधी, और डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट सम्पर्क से उनमें भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रति गहरा प्रेम उत्पन्न हो गया था। उनकी इस सदाशय मनोवृत्ति का निम्न प्रार्थना से बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है—

मेरा हृदय अब भी उस पीड़न से एक रस है जो मेरा अपना नहीं है! अब भी मेरा हृदय उस ओर चल पड़ता है जिसकी ओर से किसी के कराहने का शब्द आता है।

वास्तव में वे मानवता के एक बहुत बड़े प्रेमी थे। यद्यपि वे मानवता को प्यार करते थे, तौभी उन्होंने अपने जीवन के सर्वोत्तम समय के कई वर्ष भारत और भारतीयों की सेवा में

बिताये। भारत की मैत्री-पूर्ण सेवा के उनके अनेक कार्यों में से केवल एक का ही मैं यहाँ उल्लेख करूँगा। शर्त्तबन्दी कुली प्रथा के अन्तर्गत फीजी और अन्य स्थानों में ले जाये गये भारतीयों की दशा सुधारने के लिये उन्होंने कठोर परिश्रम किया। श्रीपियर्सन के साथ वे फीजी गये और एक बड़ी ही सुन्दर और खोज-पूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित कराई। इस रिपोर्ट में आपने उन सब अनौचित्य और अन्यायपूर्ण परिस्थितियों का उल्लेख किया, जिनके अधीन सुदूर भारतीय ग्रामों के ७५ प्रतिशत लोग शर्त्तबन्दी कुली प्रथा के अन्तर्गत बाहर ले जाये जाते थे और पाँच साल तक के लिये बड़ी प्रतिकूल स्थिति में मजदूरी करने पर मजबूर किये जाते थे। अपनी रिपोर्ट मे श्रीएंड्रूज ने करुणापूर्ण शब्दों में प्रवासी भारतीय कुलियों के साथ होनेवाले व्यवहार और उसकी हृदय-द्रावक प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया है और बताया है कि कितने ही कुलियों और उनकी स्त्रियों को प्रवास की इस यातना से बचने के लिये हुगली में अथवा बीच समुद्र में कूदकर आत्म-हत्याएँ तक करनी पड़ीं।

स्वर्गीय श्रीगोखले ने भी इस सत्यानाशी प्रथा को हटवाने के लिये वर्षों परिश्रम किया; पर सरकार ने इसमें कुछ आंशिक परिवर्त्तन ही किये, पूर्णरूप से इसे नहीं हटाया।

उनके स्वर्गवास के बाद तो इसको हटवाने की जिम्मेदारी एक तरह से मेरे ही कंधों पर आ पड़ी। मैंने मार्च, १९१६ को इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस आशय का एक प्रस्ताव पेश किया कि सपरिषद् गवर्नर-जनरल इस बात की सिफारिश करते हैं कि इस प्रथा को हटाने के लिये शीघ्र ही कुछ कारवाई की जाय। इस सिफारिश को भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंज ने स्वीकार कर लिया और शर्त्तबन्दी कुली प्रथा के अभिशाप को दूरकर असंख्य भारतीयों की सत् कामनाएँ प्राप्त कीं। इसमें श्रीएंड्रूज का बहुत बड़ा हाथ था।

अहः ! शर्त्तबन्दी कुली प्रथा को हटवाने और भारत के प्रति की गई इसी तरह की कई अन्य मैत्रीपूर्ण सेवाओं के लिये हम उनका दीर्घकाल तक प्रीति और कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते रहेंगे।

—पं० मदनमोहन मालवीय

दीनबन्धु एंड्रूज

एंड्रूज साहब से मेरा पहला परिचय तब हुआ जब उन्होंने लाहौर मार्शल लॉ के शिकार विद्यार्थियों की जबरदस्त हिमायत शुरू की। मैं उस वक्त गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर से बी० ए० की परीक्षा के लिये बैठनेवाला था। यद्यपि हमारे कालेज के विद्यार्थी फ्रैन्क जौन्सन के दौर के खराब-से-खराब अपमानों से तो बच गये, पर हमारे चारों ओर जो चल रहा था, उसे देखकर किसी भी देशभक्त और स्वाभिमान रखनेवाले नौजवान का दम घुटे बिना नहीं रह सकता था। जिस चीज ने हम विद्यार्थियों को, और खास करके मुझे सबसे ज्यादा निराश किया, वह था हमारे धार्मिक लीडरों का ढीलापन। कुपित जर्नैल ने हुक्म निकाला था कि अमुक कॉलिजों में से अमुक फी सदी विद्यार्थी निकाल दिये जायँ। जर्नैल साहब ने अमुक मनमानी संख्या निश्चित कर दी थी, कसूर हो या न हो, इतनों को तो निकाला ही जाना था। इस नादिरशाही हुक्म के सामने हमारे वह लीडर, जिनकी ओर हमें आशाभरी निगाह से देखना सिखाया गया था, दीनता से झुक गये।

सहानुभूति की जगह पर हमें बुजुर्गों के पास से दानाई की सलाहें मिलती थीं। हमारे मन में सवाल उठता था कि यह कैसी ईश्वर-निष्ठा है जो आदमी को निर्भयता से न्याय और सत्य की रक्षा के लिये जुल्म के सामने खड़े होने का बल भी नहीं देती! हमें जल्दबाज और गर्ममिजाज का खिताब मिलता था। हम देश की सब मुसीबतों का कारण ठहराये जाते थे। सब कोई हमसे दूर भागते थे। वह सचमुच काले दिन थे। निराशा नौजवानों की उमंगों को कुचले डालती थी।

ऐसे समय पर चार्ली एंड्रूज की ढाढ़स बँधानेवाली निर्भीक और शक्तिशाली आवाज सुनाई दी। उस आवाज ने विद्यार्थियों के जख्मी दिलों की भावनाओं को व्यक्त किया। उनके पक्ष को अपनाया। उनकी यथाशक्ति मदद करने के लिये वे स्वयं लाहौर में आकर बैठ गये। उनकी रहायश की जगह सजायाफ्ता विद्यार्थियों का तीर्थस्थान बन गई। उन दिनों अक्सर पंजाब की दुःखद घटना का मुकाबला ग्लेन्को के कतलेआम के साथ किया जाता था। किन्तु इतिहास-विशारद एंड्रूज साहब को उससे सन्तोष नहीं हुआ—'उस स्काटलैंड की पुरानी दुर्घटना के दिनों के बाद तो मानवजाति कितना आगे बढ़ चुकी है। इसे ध्यान में रखते हुए ग्लेन्को की दुर्घटना पंजाब के सामने कोई चीज नहीं है', ऐसा

उनका कहना था। यह एक सूचक चिह्न था कि एक अँगरेज व्यक्ति को उसका अगाध देश-प्रेम ही इस बात पर मजबूर कर रहा था कि अपने देश के अत्याचारों पर पर्दा डालने की बजाय वह उसके खिलाफ अपनी आवाज उठाये।

इस चीज में एंड्रूज साहब के सारे व्यक्तित्व की चाबी पड़ी हुई थी। उनकी खास विशेषता थी उनकी भूतदया। वे ईश्वर के सेवक थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सूत्र को उन्होंने अपना लिया था। गोरे, काले, अलग-अलग जातियों या धर्मों की बाड़ को वे पहचानते ही नहीं थे। उनकी दरिद्रनारायण की प्रेमपूर्वक अनन्य सेवा के लिये कृतज्ञ होकर भारत ने उनको 'दीनबन्धु' का खिताब दिया था। उनसे अधिक योग्य व्यक्ति इस खिताब के लिये दूसरा नहीं मिल सकता था। दुखियों की पुकार सुनी कि वे मदद को तैयार। रुग्ण शरीर ऐसे समय उनको पीछे नहीं हटा सकता था। क्षणभर मे वे दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे पर जाने को तैयार हो जाते थे—भले ही वह पुकार चीन से आई हो या ब्रिटिश गायना से, दक्षिण अफ्रिका से, ट्रिनिडाड से या फिजी से। जितना अनाथ कोई हो उतनी ही अधिक उनकी उसके प्रति सहानुभूति रहती थी। अपने स्वामी यीशु ख्रीस्ट की तरह दीनों और दुखियों के रक्षण के लिये बड़ी-से-बड़ी सांसारिक शक्ति के सामने खड़े होने में वे नहीं
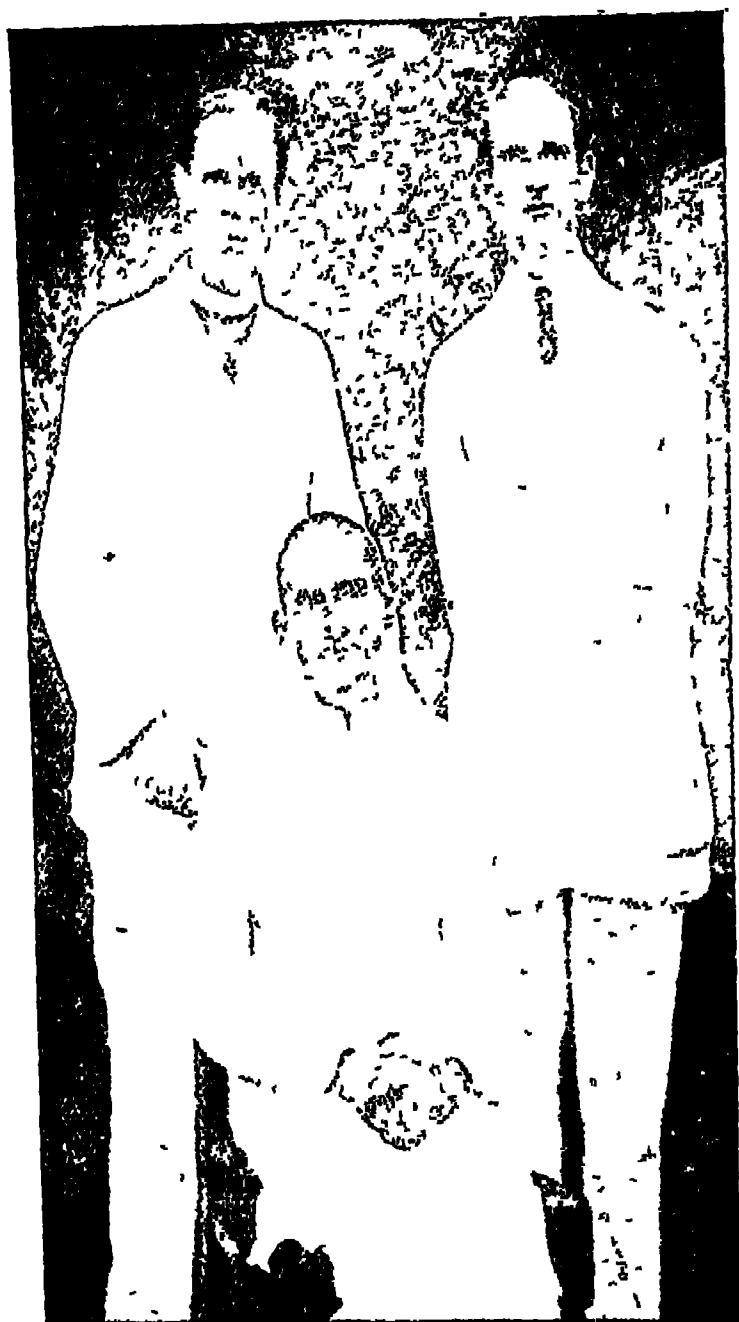
दक्षिण अफ्रिका में महात्मा गान्धी (बीच मे बैठे हुए)
और डब्लू. डब्लू पियर्सन (दाहिनी ओर
खड़े हुए) के साथ एंड्रूज

—विशाल भारत के सौजन्य से
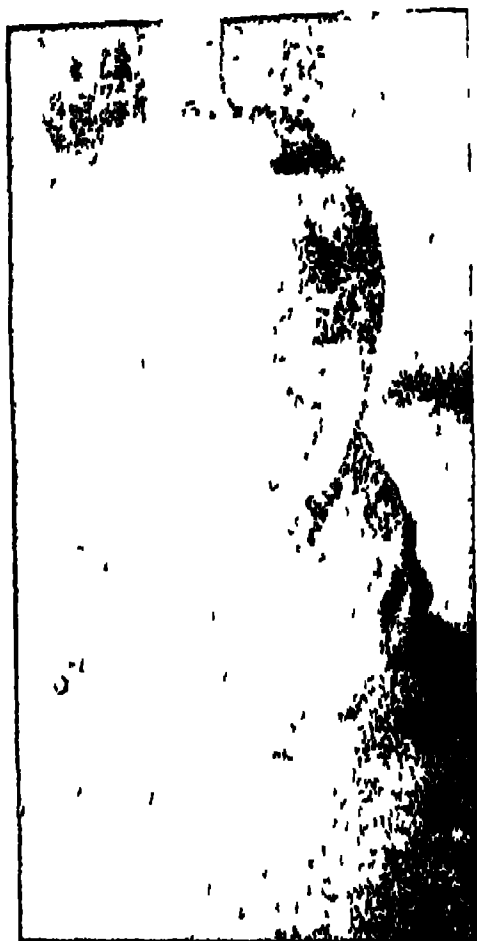
दीनबन्धु एंड्रूज

दीनबन्धु ग्राम-सेवकों के साथ

झिझकते थे। यीशु के शिक्षण का तत्त्व ही उनकी नजर में यह था। पृथ्वी पर देवलोक के अवतरण का जो जिक्र यीशु ने किया था, उसका अर्थ ही उनके नजदीक था पृथ्वी पर सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना।

इसी तरह, ईसाई धर्म भी उनका संकुचित नहीं था। दूसरे धर्मों के धर्मग्रन्थ उन्हे अपने निज के धर्मग्रन्थ के समान ही प्रिय थे। वे अक्सर कहा करते थे कि अगर वे हिन्दुस्तान और दूसरे धर्मों के सम्पर्क में न आते तो यीशु के शिक्षण को पूरी तरह न समझ पाते। वे यीशु के अपने शिष्यों के प्रति इस आदेश का अक्षरशः पालन करते थे—'जेब में सोना, चाँदी या पीतल न रख, सफर में साथ थैला तक न रख, न दो कोट रख, न जूते, न छड़ी।' परिणाम सचमुच कई बार अद्भुत और रोमांचक होता था। एक बार मैंने उनको गांधीजी के खजानची की हैसियत से ताँगेवाले को किराया देने के लिये दस रुपये का नोट दिया था। गांधीजी उस समय पूना के ससून अस्पताल में अपेन्डी-साइट्स के ऑप्रेशन के बाद अच्छे हो रहे थे। शाम को एंड्रूज साहब आये और भोलेपन से मुझे ताँगेवाले का किराया चुकाने को कहा। वह नोट उनकी खुली जेब में से उड़ गया था। जब गांधीजी को मैंने यह किस्सा सुनाया तब उन्होंने मुझे खूब डाँटा—"तुम इतना भी नहीं समझ

सकते थे कि अगर उनकी जेब से नोट गिर नहीं गया, तो सड़क पर पहले फकीर के हाथ मे वह चला जायेगा? अगर एक बच्चे के हाथ में पैसा रक्खा जा सकता है, तो चार्ली एंड्रूज को भी रुपया दिया जा सकता था।"

मिस ऑगाथा हैरीसन, जिनको गांधीजी के पास लानेवाले एंड्रूज साहब थे, कभी-कभी उनके सेक्रेटरी का काम किया करती थीं। वे हमें कहा करती थीं—'जब चार्ली हिन्दुस्तान से लौटते हैं तब सबसे पहले मैं उनकी जेबें खाली करती हूँ, ताकि वहाँ से आये हुए महत्त्व के सन्देश अपने ठिकाने पहुँचने के बदले सीधे धोबी के यहाँ न पहुँच जायँ। चार्ली तो एक बच्चा है, उसकी देखभाल करने के लिये एक माँ की जरूरत है।'

बस, यह असल बात थी। उनकी गहराई और गम्भीरता के बावजूद, उनकी बेमिसाल विद्वत्ता और विशाल अनुभव के साथ-साथ, उनका हृदय सात साल के बालक का-सा भोला और शुद्ध था। एक अंगरेज कवि ने कहा है—'महान् आत्माओं की महत्ता उनकी सादगी में रहती है।'

कोई कितना भी अदना और नाचीज क्यों न हो, उसकी परवा उन्हें रहती थी, उनकी सहानुभूति उसे मिल सकती थी। वे मिल के और दूसरे मजदूर-वर्ग के साथ खुली तरह मिलते

थे, उनके साथ हिन्दुस्तानी में बातें करते थे। हिन्दुस्तानी वे अच्छी तरह बोल लेते थे।

गम्भीरता के साथ-साथ उनमें विनोद का माद्दा भी खूब था। दूसरी राउंडटेबिल कान्फ्रेंस के दिनों में जब हम ८८, नाइट्स ब्रिजलंडन पर एक साथ रहते थे, एकबार उन्होंने अपनी बेनजीर स्वांगकला के साथ हमें 'स्नार्क का शिकार' नाम की एक अँगरेजी कविता की नकल करके सुनाई थी। नकल में, बत्तीस पादरी बत्तीस बक्स लेकर ठाठबाट से शिकार को निकलते हैं। मगर एंड्रूज साहब की तरह सब चाबियाँ घर पर भूल जाते हैं। अपना-सा मुँह लेकर वापस आते हैं। मुझे उस दिन का दृश्य कभी नहीं भूलेगा। हँसते-हँसते सारी मंडली के पेट में बल पड़ने लगे थे!

उनके आखिरी दिनों में एक रोज मैं उनसे प्रेजीडेन्सी अस्पताल, कलकत्ते में गांधीजी के साथ मिलने गया था। बातें करते-करते फिर-फिरके वह अन्त:सृष्टि का जिक्र करने लगते थे, जिसमें से उन्हें इस बीमारी के दिनों मे अवर्णनीय शान्ति मिली थी। उनका कहना था—'ज्यों-ज्यों बाह्य इन्द्रियों की प्रबलता क्षीण होती जाती है, यह अन्त:सृष्टि खिलने लगती है। यद्यपि यह अदृश्य है, मगर वह है, और मनुष्य के सारे जीवन को ढँके हुए है। आजतक, जब सारा जगत् प्रलय के मुँह

में दौड़ता जाता दिखाई देता है, मनुष्य को अपनी आत्मा के पुनर्जीवन के लिये हाथ से खोई हुई इस अन्तःसृष्टि को फिर से पाने और उसके साथ एकतार होने की अनिवार्य आवश्यकता है।"

जैसे-जैसे विदाई का समय नजदीक आने लगा, एंड्रूज साहब बेचैन होने लगे। बारबार पूछते थे कि उनका भंगी लौटा है या नहीं? पहले इस बेचैनी का कारण हमारी समझ में न आया, मगर फिर मुझे याद आया कि कैसे हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के सम्बन्ध में गांधीजी के इक्कीस दिनों के उपवास के दरम्यान एक दिन एंड्रूज साहब खास समय ठहराकर 'दिलकुश' (दिलकुश उस बंगले का नाम था जिसमे गांधीजी रहते थे।) के भंगी को गांधीजी के दर्शन कराने के लिये लाये थे। बेचारा भंगी दर्शन पाकर गद्गद हो गया था। उसका वर्णन उन दिनो एंड्रूज साहब ने अपनी काव्यमय शैली में 'दिलकुश का भंगी' शीर्षक एक लेख 'यंग इंडिया' में दिया था, जो आज भी पढ़ने के लायक है। ऐसे थे दीनबन्धु! मृत्यु-शय्या पर भी लगन थी उनको, तो गरीब, दीन-हीन, दलित ईश्वर की प्रजा की ही।

सेवाग्राम]

—प्यारेलाल

साधु एंड्रूज की कुछ स्मृतियाँ

'मेरा प्यार!'

मेरे प्रति साधु एंड्रूज के ये अन्तिम दो शब्द हैं, जो पार-साल बम्बई से दक्षिण-अफ्रिका के लिये प्रस्थान करने के एक दिन पहले-१५ वीं अगस्त को मुझे प्राप्त हुए थे। ये दो शब्द तार-द्वारा आये थे, और इसपर मेरे अनेक मित्रों को आश्चर्य भी हुआ था, क्योंकि उनकी समझ में तार से केवल 'प्यार' का आना एक नई और अनोखी बात है। किन्तु मैं तो एंड्रूज का प्यार पाकर आनन्द से उछल पड़ा। उस समय वे बहुत बीमार थे और उत्तर आरकोट जिले में तिरूपातुर नामक स्थान के ख्रीस्तु-कुल आश्रम में ठहरकर औषधोपचार करा रहे थे। डाक्टर का आदेश था कि उन्हे सभी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक श्रम और चिन्ता से अलग रहना चाहिये। इसलिये इच्छा रहते हुए भी मैंने उनसे पत्र-व्यवहार करना बन्द कर दिया था। लेकिन वे मुझे भूले नहीं। अखबारों में उन्हें मेरी यात्रा-तिथि का पता लग गया था। इसलिये भारत से विदा होते समय उनका 'प्यार' तार-द्वारा मिला था। इन दो शब्दों में

कितनी ममता थी, कितनी सहृयता थी और बन्धुत्व का कैसा प्रदर्शन था, इसे केवल वे ही समझ सकते हैं, जिन्हें कभी उनके सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

इसके एक सप्ताह पहले उनके हाथ की लिखी हुई एक चिट्ठी भी मुझे मिली थी, जो मेरे लिये उनकी अन्तिम चिट्ठी थी और स्नेह-चिह्न के रूप में वह सदा सुरक्षित रहेगी। उससे पता लगता है कि वे एक बार फिर दक्षिण-अफ्रिका आने के लिये कितने आतुर थे। इस पत्र में उन्होंने लिखा था—'अब मुझे पूरा भरोसा है कि मैं दक्षिण-अफ्रिका जाऊँगा, बशर्ते कि मेरा स्वास्थ्य ठीक रहे और संसारव्यापी युद्ध न छिड़ जाय। वहाँ आपके साथ ठहरने मे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। वास्तव में जब तक मैं वहाँ रहूँगा, मुझे शान्त रहना पड़ेगा, ताकि मैं फिर बीमार न पड़ जाऊँ। मुझे अफसोस है कि आप बीमार थे, और आशा है कि अब आप बहुत अच्छे होंगे।'

किन्तु कौन जानता था कि उनकी यह अभिलाषा पूरी न हो सकेगी और उन्हें दक्षिण-अफ्रिका की जगह परलोक की महायात्रा करनी पड़ेगी। न जाने क्यों, इधर वे दक्षिण-अफ्रिका आने के लिये अत्यन्त आतुर हो रहे थे। गत वर्ष मार्च में जब मैं यूनियन-सरकार की पृथक्करण-नीति—'Segregation Policy.' के विरुद्ध लोकमत जागरित करने के लिये दिल्ली

पहुँचा, तब स्टेशन पर ही त्रिपुरी कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष सेठ गोविन्ददास एम्० एल० ए० ने मुझे एंड्रूज साहब का यह सन्देश सुनाया कि कल सबसे पहले आपको उन्हींसे मिल लेना चाहिये। उस समय एंड्रूज साहब भी सेन्ट स्टीफेन्स कालेज का शिलान्यास करने के लिये दिल्ली पहुँच गये थे और श्री रघुवीरसिंह के मकान पर ठहरे हुए थे। मैंने दूसरे दिन सवेरे ही वहाँ पहुँचकर उनके दर्शन किये। उस दिन का प्रेमालिंगन और प्रेमालाप मेरे जीवन की संचित स्मृतियों की एक धरोहर है।

वे महात्मा गान्धी से मिलकर बात कर चुके थे। महात्माजी भी उस समय राजकोट-कांड के कारण दिल्ली मे ही विराजमान थे। एंड्रूज साहब ने उस विपद् की घड़ी मे भी दक्षिण-अफ्रिका पहुँचकर प्रवासी भारतीयों की सहायता करने की आज्ञा महात्माजी से माँगी, किन्तु महात्माजी उनके विचार से सहमत नहीं हुए। उन्होने साफ कह दिया कि इस समय वहाँ जाने की कोई जरूरत नहीं है। यहीं रहकर यूरोपियन लोकमत तैयार करो और यूनियन की पृथक्करण-नीति के विरुद्ध आन्दोलन करते रहो। इसमें वे बहुत हताश हो गये थे, क्योंकि महात्माजी का वाक्य उनके लिये ब्रह्मवाक्य ही था। वे त्रिदेव के पुजारी थे, और उनके त्रिदेव थे—महात्मा

गान्धी, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और स्वर्गीय श्रद्धानन्दजी।

एंड्रूज साहब ने मुझे समझाया कि इस अवसर पर उनका दक्षिण-अफ्रिका जाना कितना आवश्यक है और वे डाक्टर मलाव आदि अफ्रिकन नेताओं और प्रजा पर कितना और कैसा प्रभाव डाल सकते हैं। उन्होंने एक उदाहरण भी दिया कि हाल ही में दक्षिण-भारत में ईसाइयो की एक विश्व-परिषद् हुई थी। उसमें भारतीय प्रतिनिधियों ने जब दक्षिण अफ्रिका की रंग-भेद-नीति की कड़ी आलोचना की तब वहाँ के प्रतिनिधियों ने यह कहकर उसे हँसी में उड़ा देना चाहा कि वहाँ की समस्या से भारतीय जनता सर्वथा अनभिज्ञ है। इसलिये उसकी टीका का कोई महत्त्व नहीं। इसपर एंड्रूज साहब से खामोश नहीं रहा गया। जब उन्होंने उठकर भारतीय लोकमत का तर्कों और प्रमाणों द्वारा समर्थन करना शुरू किया, तब दक्षिण-अफ्रिका के प्रतिनिति विचलित हो उठे और उन्हें यह कहकर परिस्थिति को शान्त करना पड़ा—'मि० एंड्रूज, आप तो हममें से एक हैं। आपको हम साउथ अफ्रिकन ही समझते हैं और इसलिये आपकी बात की उपेक्षा नहीं कर सकते।'

इसी सिलसिले में एंड्रूज साहब ने मुझे यह भी बतलाया कि 'दक्षिण-अफ्रिका में कौन क्या है' (South African Who's Who.) नामक ग्रन्थ में भी एक साउथ अफ्रिकन

की हैसियत से उनका चित्र और चरित्र छपा है। उनकी बातों से मैं इतना प्रभावान्वित हुआ कि जब महात्मा जी के दर्शन हुए तब मैंने उनसे यही प्रार्थना की—इस संकट-काल में एंड्रूज साहब को अवश्य दक्षिण अफ्रिका भेजना चाहिये। किन्तु महात्माजी अपने निर्णय से कब डिगनेवाले हैं! उस समय उनका रुख मुझे अच्छा नहीं लगा; किन्तु दो-चार दिनों के बाद ही उनकी देववाणी की सत्यता सिद्ध हो गई।

दूसरी बार जब मैं एंड्रूज साहब से मिला तब उनका चेहरा देखकर भयभीत हो उठा। मेरे कुछ पूछने से पहले ही उन्होंने कहा—'आज मेरी तबीयत बहुत खराब है। क्या हो गया, मालूम नहीं। यों तो कोई बीमारी नही जान पड़ती; लेकिन मेरा सिर घूम रहा है और शरीर में बड़ी बेचैनी है। मैं तुरत अस्पताल जाना चाहता हूँ। मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि यह बात बिल्कुल गुप्त रक्खें, किसी को जाहिर नहीं करें, अन्यथा लोग अस्पताल में पहुँचकर नाहक ही हैरान होंगे।' मैंने उनको यह वचन तो दे दिया कि इस आकस्मिक घटना की चर्चा किसी से नहीं करूँगा; किन्तु न जाने क्यों मेरे शरीर के सारे रोंगटे खड़े हो गये और दिल पर एक धक्का-सा लगा।

मैंने उनकी अवस्था देखकर अधिक पूछ-ताछ करना उचित नहीं समझा और यह भी पूछना भूल गया कि वे किस अस्पताल

को जायँगे। इसलिये दूसरे दिन उनका पता लगाने में बड़ी कठिनाई हुई। मैंने टेलीफोन द्वारा दिल्ली के सभी अस्पतालों में तलाश की। अन्त में पता लगा कि वे हिन्दूराव-अस्पताल में हैं। दोपहर के बाद मैं वहाँ पहुँचा। नर्स से पता चला कि उन्हें किसी से मिलने-जुलने की डाक्टर ने सख्त मनाही कर दी है। फिर भी मेरे संबंध में उन्होंने एंड्रूज साहब से पूछ लेना ही ठीक समझा। कुछ देर के बाद मुझे उनके कमरे में जाने की इजाजत मिल गई। दरवाजे पर एक तख्ता लगा था, जिसमें बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—'Visitors are not allowed.'

डाक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम करने की आज्ञा दी थी, किन्तु कमरे में पहुँचकर मैंने देखा कि सफेद कागज पर उनकी लेखनी तीव्र गति से दौड़ रही है! 'आओ, भाई, तुम्हें देखने की बड़ी लालसा थी'—कुर्सी से उठते हुए उन्होंने कहा,—'यह तो चिट्ठी, जो दक्षिण-अफ्रिका की समस्या पर मैंने श्रीमान् वाइसराय को लिखी है।' मैंने पत्र पढ़ने से पहले उनके स्वास्थ्य का समाचार जानना चाहा। 'हाँ, यहाँ आने पर डाक्टरों ने बतलाया कि रक्त के दबाव (Blood Pressure) की शिकायत हो गई है और इसका इलाज है—किसी समुद्रतटवर्ती स्थान में रहकर पूर्ण विश्राम।' मधुर मुस्कान के साथ उन्होंने

यह समाचार सुनाया। मैंने सोचा, जो बीमारी महात्मा गांधि को हैरान करती रहती है, वही इनके पल्ले भी पड़ी। मैं जरा रोब प्रकट करते हुए बोला—'लेकिन आप तो डाक्टर की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन कर रहे हैं—खूब आराम कर रहे हैं! इस हालत में पत्रादि लिखने की क्या जरूरत थी?' उनके मुख पर हँसी की रेखा झलक आई। वे बात टालकर श्रीमान् वाइसराय के पास भेजी जानेवाली चिट्ठी को खुद पढ़कर सुनाने लगे। सच पूछिये, तो उस पत्र की ओर मेरा ध्यान बहुत कम था। मै तो वहाँ बैठा हुआ यही सोच रहा था कि इस महापुरुष के पास कैसा विशाल हृदय है और उसमें प्रवासी भारतीयों के लिये कितनी ममता और मोह है! इस रुग्णावस्था में भी इसे चैन नहीं है और दक्षिण-अफ्रिका की चिन्ता लगी हुई है! इसी समय नर्स आ पहुँची। मैंने मजाक में पूछा—'आपका रोगी तो आराम की जगह काम में लगा हुआ है।' उसने मुसुकराते हुए जवाब दिया—'और सब बातों में तो मेरा रोगी अद्वितीय है; किन्तु उसकी एक यही आदत बुरी है, जो हमारी सेवा और उपचार को निरर्थक बना देगी।'

अन्तिम बार जब मैं उनसे हिन्दूराव-अस्पताल में मिला, तब उनका स्वास्थ्य कुछ सुधरने लगा था। वे अस्पताल से निकलकर किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में जाने का विचार कर

रहे थे। इस बार उन्होंने बहुत देर तक बातचीत की। इसी सिलसिले में उन्होंने यह भी शिकायत कर डाली—'देखिये न, भारत सरकार के अधिकारी की उपेक्षा! मेरी बीमारी की खबर पाकर भी अमुक महाशय अब तक मुझसे मिलने नहीं आये।' कहने की जरूरत नहीं कि उसी दिन मैंने उन अमुक महाशय से मिलकर इस बात की शिकायत की और वे फौरन् अस्पताल में जाकर उनसे मिल आये।

उस समय मैंने स्वप्न में भी यह खयाल नहीं किया था कि उनसे मेरी यह अन्तिम भेंट है—अब इस जीवन में पुनर्मिलन की कोई आशा नहीं है! मुझे क्या खबर थी कि यही उस महारोग का सूत्रपात है जो साल-भर में उनके जीवन-प्रदीप का बुझाकर ही छोड़ेगा। तब वे फिर कभी पूर्णतः स्वस्थ नहीं हुए। गत पाँचवीं अप्रैल, १९४० को रायटर ने यह दुःखद सूचना दी कि वे इस संसार से सदा के लिये चल बसे! इस दुर्घटना से मेरे हृदय पर कैसा आघात पहुँचा, वह तो केवल अनुभव की वस्तु है—लिखकर बताना असम्भव है।

पिछली बार जब सन् १९३४ में वे दक्षिण-अफ्रिका आये थे, तब मेरे घर भी मेहमान रहे थे। मेरी एकान्तप्रियता उन्हें बहुत पसन्द आई थी, इसीलिये इस बार वे मेरे साथ रहने का इरादा रखते थे। मेरे बच्चे उनसे ऐसे मिल-जुल गये थे,

जैसे कोई अपने सगे-स्नेही से बेतकल्लुफ हिलमिल सकता है। मेरे पौत्र नरेन्द्रकुमार को गोद में लेकर वे खिलाया करते। वह बच्चा भी उनके मुख की ओर निहारता और मुसकराया करता। मेरे बच्चे आज उनकी एक-एक बात याद कर आँसू बहा रहे हैं!

मेरी धारणा है कि एंड्रूज साहब एक महान साधु थे—चतुर राजनीतिज्ञ नहीं। उनकी पिछली यात्रा के समय एक ऐसी ही बात हुई थी जिससे मुझे इस तथ्य पर पहुँचना पड़ा। एक रात हमलोग प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता श्री अब्दुल्ला इस्माइल काजी के घर में सोये थे। बड़े सवेरे उठकर उन्होंने एक मसविदा तैयार किया और मुझे दिखाया। यह बात थी कि उस समय प्रवास-निर्माण की योजना (Colonisation Scheme) पर प्रवासी भारतीयों में गहरा मतभेद हो गया था। इस योजना की जाँच के लिये जो कमिटी बैठी थी उसमें सहयोग देने के कारण एक दल कांग्रेस से बगावत कर बैठा था और 'कौलोनियल बार्न एण्ड सेटलर्स ऐसोसियेशन' नामक एक नई संस्था की स्थापना कर डाली थी। इसी दल को कांग्रेस में वापस लाने के लिये एंड्रूज साहब ने यह मसविदा तैयार किया था। आशय यह था कि दोनों दल इस शर्त्त पर मिलते हैं कि भविष्य में प्रवास-निर्माण योजना (Colonisation Scheme) से कांग्रेस का कोई सरोकार न होगा। मैंने उनको

समझाया कि 'आपका यह मसविदा यूनियन-सरकार के हाथ में भारतीय को मारने के लिये एक हथियार का काम देगा। इस योजना की जाँच हो चुकी, रिपोर्ट भी निकल गई और विचार के गर्भ में इसका अन्त भी हो गया। अब इस मरी हुई योजना के सम्बन्ध में अपनी भावी नीति की घोषणा करना सरकार को यह कहने का मौका देना है कि भारतीय अपने वचन से मुकर गये। जब इसका नामोनिशान मिट चुका है, तब फिर इसे तरोताजा करने की कोशिश करना भयंकर राजनीतिक भूल है।' एंड्रूज साहब की समझ में बात आ गई, और उन्होंने उस मसविदे को फाड़कर फेंक दिया।

पहले-पहल सन् १९१४ ई० में एंड्रूज साहब से मेरी भेंट हुई थी। महात्मा गांधी ने ही उनसे परिचय कराया था। उनके साथ पादरी पियर्सन साहब भी थे। वे भी अब इस लोक में नहीं रहे। एंड्रूज साहब ने महात्माजी का चरण स्पर्श किया था, इसपर यहाँ के अँगरेजी अखबारों ने उनकी बड़ी खिल्ली उड़ाई थी। एक पत्र ने तो यहाँ तक लिखा था— 'रेवरेंड महोदय ने झुककर अपनी उँगलियों से गांधीजी के चरण-तल की धूलि उठाई और बड़ी श्रद्धा से उसे अपने माथे पर रगड़ा!' एंड्रूज साहब को ऐसी व्यंग्योक्तियों की क्या परवा थी! उन्होने साफ-साफ कह दिया—

यहाँ के गिरजाघरों में बहुत ढूँढ़ने पर भी मुझे प्रभु ईसा-मसीह के दर्शन नहीं मिले—यदि मैंने कहीं उन्हें पाया, तो हिन्दुस्तानी सत्याग्रहियों के आत्म-बलिदान में।"

प्रथम दर्शन में ही उनके प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा हो गई। एंड्रूज साहब मुझे निर्बलों के बल, निर्धनों के धन, दुखियों के बन्धु, मजदूरों के मददगार, दासता के दुश्मन और मनुष्यता की विलक्षण शक्ति दीख पड़े। उनके चेहरे पर मुझे कृष्ण के कर्म और संयम की, बुद्ध के सत्य और अहिंसा की तथा ईसा की दया और क्षमा की अद्भुत रेखाएँ दीख पड़ीं।

तभी से मैं उनका भक्त हो गया और मेरी भक्ति निरन्तर बढ़ती ही गई। कार्यक्षेत्र में कभी-कभी उनसे मतभेद भी हो गया; किन्तु व्यक्तिगत सम्बन्ध मे कोई अन्तर नहीं आया। सन् १९१९ की बात है, दक्षिण अफ्रिका में एक एशियाटिक कमीशन बैठा था। उस समय मैं भारत में था और एंड्रूज साहब थे दक्षिण-अफ्रिका मे। हमारे एक जोशीले मद्रासी भाई ने कुछ मजदूरों को सिखा-पढ़ाकर एंड्रूज साहब के सामने ला खड़ा किया और उनके मुँह से कहलवाया—'साहब, इस देश में हमलोग बहुत मुसीबत झेल रहे हैं। यदि सरकार को हमारी जरूरत नहीं रही तो हमे जहाज का खर्च देकर देश उतार दिया जाय।' एंड्रूज साहब का कोमल हृदय द्रवित हो उठा और

उन्होंने कमीशन को यह सलाह दे डाली कि जो राजी-खुशी से देश जाना चाहते हैं उनको सरकारी मदद से भेज दिया जाय।' 'जो रोगी को भावे वही वैद्य बतावे'—सरकार जो चाहती थी—वही उसे मिल गया। उसने स्वेच्छापूर्वक प्रत्यागमन (Voluntary repatriation,) की एक नई योजना निकाली और अबोध भारतीयों को फुसलाकर, राह खर्च के सिवा पाँच पौंड का इनाम भी देकर दक्षिण-अफ्रिका की जमीन खाली करने लगी।

उस समय मुझे विवश होकर एंड्रूज साहब के इस कार्य की कड़ी लोचना करनी पड़ी थी। एंड्रूज साहब से यदि भूल हो जाती थी तो पीछे उन्हें बड़ा पश्चात्ताप भी होता था। प्रवास से लौटे हुए भारतीयों की घोर दुर्दशा देखकर उनका हृदय तिलमिला उठा, और उन्होंने अत्यन्त पश्चात्ताप के साथ लिखा—
" I deeply regret as such a critical time I should have personally added one pang to Indian humeliation by weakly cauntenancing repriation from South Africa"

एंड्रूज साहब से बढ़कर प्रवासी भारतीयों का हितैषी दूसरा कोई नहीं हुआ। उन्होंने कई बार पूर्व और दक्षिण-अफ्रिका का चक्कर लगाया। उन्हीं की बदौलत फिजी से शर्त्तबन्दी-प्रथा का नाश हुआ, जो भारत की सबसे बड़ी अप-

कीर्त्ति थी। डेमरारा और ट्रिनीड्राड की भी उन्होंने खाक छानी। उन्होंने प्रवासी भारतीयों की जो अद्वितीय सेवा की है वह युगयुगान्तर तक भारत और वृहत्तर भारत के इतिहास में अमर रहेगी।

मुझपर उनका बड़ा ही स्नेह था। उन्होंने मेरी धर्म-पत्नी जगरानी देवी के निधन पर बहुत-कुछ लिखा था। जब जगरानीजी आदि सत्याग्रह में भाग लेनेवाली देवियाँ डरबन-जेल में थीं तब एंड्रूज साहब उनसे मिलने गये थे। वहाँ जेल-कर्मचारियों ने उनके साथ जो व्यवहार किया था, उन्होंने उसका एक जगह बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है।

एंड्रूज साहब की पवित्र स्मृतियों को इस छोटे-से लेख में क्रमबद्ध वर्णन करना असम्भव है। उनको देखते ही सहसा मेरे हृदय से यह उद्गार निकल पड़ता था—'बस, मनुष्य है तो यही। इसके जोड़े का मनुष्य मिलना दुर्लभ है।' मनुष्यता की वे सजीव मूर्त्ति थे। पीड़ित मानवता के उद्धार के लिये ही उन्होंने अवतार लिया था और इसी क्षेत्र में अपने जीवन को उत्सर्ग भी कर दिया। वे भारतीय बन गये थे और भारत को ही उन्होंने अपना कर्मक्षेत्र बना लिया था। भारतीय स्वाधीनता के वे अग्रदूत थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन्होंने भारतीय स्वाधीनता पर एक पुस्तक भी लिखी थी जिसमें उन्होंने यह

प्रमाणित किया था कि औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominian States) भारत के लिये उपयोगी नहीं हो सकता, क्योंकि भारत का इतिहास, संस्कृति, आदर्श, आचार-विचार, व्यवहार आदि इंगलैंड से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, अतएव भारत के लिये तो पूर्ण स्वाधीनता ही हितकर है। उस समय अमृतसर-कांग्रेस में मांटेगू-चेम्सफोर्ड-शासन-विधान पर बोलते हुए महात्मा गांधी तक ने इस पूर्ण स्वाधीनता के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था और एंड्रूज साहब के विचारों की मीठी चुटकी भी ली थी; किन्तु उसके एक दशाब्दी के ही बाद भारत को अपने स्वरूप का सच्चा परिज्ञान हुआ। वही भारत, जो औपनिवेशिक स्वराज्य पर सन्तोष करना चाहता था, आज पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर चुका है और उसका दावा है कि वह पराधीन प्रजा नहीं—एक स्वतन्त्र राष्ट्र है।

इस संसार में जो जन्म ग्रहण करता है वह मरता भी है; किन्तु एंड्रूज साहब मरकर भी अमर हो गये। उन्होंने मानवता के महायज्ञ में अपने जीवन की आहुति देकर जो दिव्य-ज्योति जगाई है, वह सदा जागती रहेगी और उसके प्रकाश में मानव-समाज का निरन्तर उत्कर्ष और विकास होता रहेगा।

भवानी भवन, जैकव्स (नाटाल)] —स्वामी भवानीदयाल सन्यासी

एंड्रूज से मेरा परिचय

३ मई, सन् १९१८—

तीन दिनों की लम्बी यात्रा के बाद कलकत्ते पहुँचा। १०३ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट को गाड़ी की और सीधा 'भारत-मित्र' कार्यालय जा उतरा। बहुत दिनो से मेरी इच्छा 'भारत-मित्र' के संचालकों से मिलने की थी। जब-जब मैं अपने मित्रों के साथ भारत के समाचार-पत्रो के विषय में बात-चीत करता था, मेरे अनेक मित्र मुझसे कहते थे—'जितनी स्पष्टता और निर्भयता के साथ 'भारत-मित्र' अपने राजनीतिक विचार प्रकट करता है, उतनी निर्भयता के साथ और उतनी योग्यता-पूर्वक भारत के कितने ही अँगरेजी दैनिक भी नहीं करते।' मेरा निज का मत भी यही था। थोड़ी देर बाद मैं 'भारत-मित्र'-कार्यालय में जा पहुँचा। सम्पादकीय विभाग के सज्जनों से मिलकर बड़ा हर्ष हुआ। मुझे ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं घर पर ही बातें कर रहा हूँ। न वहाँ ऊपरी दिखावट थी, न झूठा शिष्टाचार था और न तकल्लुफबाजी। कुछ विश्राम करने के बाद मैंने श्रीयुत वाजपेयीजी से पूछा—'मैं एंड्रूज साहब

के दर्शन करना चाहता हूँ, वे कहाँ मिल सकेंगे ?' उन्होंने कहा—'वे रवि बाबू के घर पर जोरासाँको में होंगे। क्या अभी मिलना चाहते हो ?' मैंने कहा—'हाँ।' सम्पादकजी ने कृपाकर मेरे साथ एक सज्जन कर दिये, जो मुझे कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ के घर पर पहुँचा आये। मिस्टर एंड्रूज उस समय उस विशाल भवन के ऊपरी भाग में बैठे हुए किसी से बात-चीत कर रहे थे। मैंने उनका चित्र एक बार 'इंडियन ओपी-नियन' के स्वर्णांक में देखा था, इसलिये दूर से ही मैंने उन्हें पहचान लिया। अपने परिचय का पत्र एक नौकर के हाथ उनके पास भिजवाया। उस नौकर ने मुझे तबतक पुस्तकालय में बैठने के लिये कहा। थोड़ी देर बाद ही मिस्टर एंड्रूज धोती और कमीज पहने हुए वहाँ आ गये। खड़े होकर मैंने 'नमस्कार' किया। मिस्टर एंड्रूज ने भी बिल्कुल भारतीय ढंग से नमस्कार किया। उन्होंने मुझसे पूछा—'पं० तोताराम अच्छी तरह हैं ?' मैंने कहा—'बहुत अच्छी तरह हैं और उन्होंने आपको प्रणाम कहा है।' तदनन्तर प्रवासी भारतीयों के विषय में बहुत देर तक बातचीत होती रही। फिर मिस्टर एंड्रूज ने कहा—'Will you not like to see Shantiniketan at Bolpur ?' अर्थात्—'क्या तुम शान्तिनिकेतन नहीं देखोगे ?' मैंने कहा—'क्यों नहीं ? मैं तो

उसे एक तीर्थ-स्थान समझता हूँ।' तदनन्तर मैं बोलपुर गया और वहाँ शान्तिनिकेतन में कई दिनों तक रहा। मेरा प्रथम परिचय मिस्टर एंड्रूज के साथ इस प्रकार हुआ। लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं उनसे पहले भी कई बार मिल चुका हूँ। इसका कारण यही था कि मैं कई वर्षों से 'माडर्न रिव्यू' आदि पत्रों में उनके लेख पढ़ता रहता था, और शर्त्त-बन्दी कुली प्रथा के विषय में सन् १९१५ से मेरा उनके साथ पत्र-व्यवहार भी हो रहा था। मिस्टर एंड्रूज उन व्यक्तियों में थे, जिनके हृदय की स्वच्छता और सरलता उनसे मिलने के पाँच मिनट बाद ही प्रकट हो जाती थी। उनकी सरलता स्वाभाविक थी, उसमें कृत्रिमता और आडम्बर का नामोनिशान नहीं था। उनका हृदय निर्मल दर्पण के समान था, जिसमें उनकी सचाई का प्रतिविम्ब ज्यों-का-त्यों दीख पड़ता था। जिन्हें मि० एंड्रूज के साथ घंटे-दो-घंटे भी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे भी उनकी मनोहर सादगी और स्वाभाविक सरलता पर मुग्ध हो गये हैं।

९ सितम्बर, सन् १९२० को कलकत्ते में प्रवासी भारतीयों के विषय में कुछ निवेदन करने के लिये मुझे महात्मा गांधी की सेवा में उपस्थित होना पड़ा था। एंड्रूज साहब का जिक्र आते ही महात्माजी ने बड़ी सरल गम्भीरता के साथ कहा—'एंड्रूज तो आजकल ऋषि हैं।'

-२-

११ जून, सन् १९२० की बात है। रात्रि का समय था। लगभग ९ बजे थे। शान्तिनिकेतन में उस समय वर्षा हो रही थी। ग्रीष्मऋतु में पहले-पहल पानी पड़ने से भूमि से भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी। ऐसे अवसर पर शान्तिनिकेतन की जो शोभा होती है, वह अवर्णनीय है। भोजन कर चुकने के बाद श्रीयुत एंड्रूज साहब 'वेणु-कुंज' में पधारे। फिजी के विषय में मैंने उन्हें बहुत-से समाचार सुनाये। उन्हें सुनकर उनका हृदय कितना विचलित हुआ, यह मैं कभी नहीं भूल सकता। वे अपने कमरे में टहल रहे थे। टहलते-टहलते वे एक साथ रुक गये और करुणोत्पादक शब्दों में कहने लगे—'भारतीय नेताओं ने यह आलस्य क्यों किया है? फिजी-प्रवासी हिन्दुस्तानियों की ओर वे ध्यान क्यों नहीं देते?' रात्रि के ११½ बजे तक प्रवासी भारतीयों के विषय में बातचीत होती रही। तत्पश्चात् देश की राजनीतिक परिस्थिति का विषय आया। मैंने नम्रता-पूर्वक निवेदन किया—'आपके जातिवालों ने—आपकी अँगरेज-जाति की सरकार ने—पंजाब में जो रुख अख्तियार किया है, उसका हम हिन्दुस्तानियों के हृदय पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। जातीय विद्वेष इस समय अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। हमलोग शासक नाम से भी अविश्वास और घृणा करने लगे हैं। गदर

के समय की हरकतों को छोड़कर कभी भी इतनी ज्यादतियाँ हमपर नहीं हुईं। इस विद्वेष के ये भाव इतनी गहराई तक पहुँच गये हैं कि उनको जड़-मूल से दूर करने के लिये आपकी तरह के अनेक व्यक्ति भी पर्य्याप्त न होंगे; किन्तु इस द्वेषान्धकार-परिपूर्ण आकाश-मंडल में आपके वे कार्य, जो इस संकटमय अवसर पर आपने पंजाब में जाकर किये हैं, आशामय विद्युत् की तरह चमक रहे हैं।

'वर्त्तमान जातीय विद्वेष को दूर करना हमलोगों का कर्त्तव्य है। आपकी सुप्रसिद्ध पुस्तक The Renaissance in India (भारतीय जागृति) की भूमिका में कलकत्ते के लार्ड बिशप ने लिखा है—'The heart of the author is wholly set on the realisation of that noble aim, the lessening of race prejudices and exclusiveness.' अर्थात्—ग्रन्थकार का हृदय पूर्णतया एक महान् उद्देश्य की पूर्त्ति में लगा हुआ है और वह है जातीय कुसंस्कारों और भेदों को दूर करना।'

जिस समय मैं ये बातें कह रहा था, मिस्टर एंड्रूज धीरे-धीरे सिर हिला रहे थे। सरलता तथा सचाई उनके चेहरे से टपक रही थी। फिर मैंने कहा—'आपके कार्य जातीय विद्वेष को दूर करने में कितनी सहायता दे रहे हैं, इसका यदि

मैं यहाँ एक उदाहरण दे दूँ, तो आशा है कि आप मुझे क्षमा करेंगे। एक बार मैं अपने नगर के बाहर हनुमानजी के मन्दिर पर बैठा हुआ था। मेरी जाति के कितने ही वृद्ध तथा युवक बातचीत कर रहे थे। 'लीडर' का वह अंक मैं लेता गया था, जिसमें आपकी लाहौर वाली स्पीच छपी थी। उसका अनुवाद पढ़कर सुनाया गया। मैं जानता हूँ कि उसका कितना अधिक असर पड़ा। जहाँ आपने अमृतसर के हत्याकाण्ड की उपमा ग्लांको के क़त्ल से दी थी, वह भाग पढ़ा गया। तदनन्तर आपने कहा था कि मिस शेरवुड को पीटना बड़ा भारी अन्याय था। साथ ही साथ यूरोपियनों को जान से मार देना भी वैसा ही अनुचित और अमानुषिक कार्य था। इस बात को सुनकर सुनानेवालों पर विचित्र प्रभाव पड़ा। एक वृद्ध पुरुष ने कहा—'देखो, यह एक सच्चा अँगरेज है। जहाँ इसने अपने भाइयों की इतनी निन्दा की है, वहाँ साथ ही साथ हमलोगों की, भारतवासियों की, भी भूल बतलाई है। अब हम यह नहीं मान सकते कि एक ही तरफ़ से सारा अन्याय हुआ है। हिन्दुस्तानियों ने भी कुछ अनुचित कार्य किये और फिर सरकार ने उनका पचास गुना बदला लिया।' सब के सब आदमी जब रात के वक्त घर लौट रहे थे, तब बातचीत करते हुए किसी-किसी ने कहा था—'भाई, सब अँगरेज बुरे नहीं होते। उनमें

एंड्रूज साहब की तरह अच्छे भी होते हैं।' मैंने अनेक बार अपने विद्यार्थियों को आपके जीवन की घटनाएँ सुनाई हैं। सुनाने के बाद मैंने प्रायः देखा है कि उनके चेहरे कृतज्ञता के भावों से परिपूर्ण हो जाते हैं। जब वे सुनते हैं कि आप हमारी भारतमाता के लिये इतना स्वार्थत्याग और परिश्रम कर रहे हैं, उनके हृदय को अत्यन्त सन्तोष होता है और वे समझ जाते हैं कि अँगरेज मात्र के प्रति घृणा करना हमारे लिये अनुचित है। स्वाधीनता के लिये हमारा जो संग्राम होना चाहिये, वह जातीय विद्वेष के निर्बल अस्त्र की सहायता से नहीं, बल्कि न्याय और प्रेम के सबल अस्त्रों द्वारा होना चाहिये। आपके जीवन का उद्देश्य, जैसा लार्ड बिशप साहब ने लिखा है, जातीय विद्वेष को दूर करना है। यदि मैं हिन्दी में आपके विचारों को लिख सकूँ, तो मुझे विश्वास है कि कम-से-कम पाँच-सात सहस्र हिन्दी-पाठकों के सम्मुख आपकी आत्मा का सन्देश पहुँच जायगा।'

मिस्टर एंड्रूज गम्भीरता पूर्वक मेरी इस बात को सुन रहे थे। अब वे समझ गये थे कि मैं क्या प्रार्थना करनेवाला हूँ। मैंने फिर कहा—'यह हो नहीं सकता कि आपकी जीवनी न लिखी जाय। कभी-न-कभी कोई-न-कोई आपकी जीवनी अवश्य लिखेगा। क्या ही अच्छा हो, यदि आपकी प्रथम जीवनी लिखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो! यद्यपि मैं इस कार्य के लिये योग्य नहीं;

लेकिन मेरी मातृभाषा हिन्दी है, जिसके बोलनेवालों की संख्या १३ करोड़ है और समझनेवालों की २० करोड़। मुझे आशा है कि आप मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकृत करेंगे।' कुछ देर सोचकर मिस्टर एंड्रूज ने कहा—'Yes, at this crisis it may do some good.' (हाँ, सम्भव है कि इस कठिन अवसर पर इससे कुछ भलाई हो।) इस प्रकार मेरे कार्य का श्रीगणेश हुआ।

महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' में एकबार लिखा था—'मिस्टर एंड्रूज पर यह कहावत चरितार्थ होती है कि उनका बायाँ हाथ क्या काम कर रहा है?' वे ख्याति-प्रेमी नहीं थे और न 'लीडर' बनने का उन्हें शौक था। 'लीडरी' से वे सदा दूर भागते थे। इन कारणों से मिस्टर एंड्रूज से यह प्रस्ताव स्वीकृत कराना कोई सरल बात नहीं था।

उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में एंड्रूज ही एक ऐसे अँगरेज थे, जिनपर भारतीय नेताओं तथा भारतीय जनता का पूर्ण विश्वास था। लाला लाजपतरायजी ने अपने स्पेशल कांग्रेस-वाली वक्तृता में कहा था—'The one Englishman whose name I must mention with gratitude Mr. C. F. Andrews, who is now one of us.' अर्थात्—'केवल एक अँगरेज ऐसा है जिसका नाम हमें कृतज्ञता-पूर्वक लेना

चाहिये और वह है मिस्टर सी. एफ. एंड्रूज। वे अब हमारे जातीय ही हैं।'

श्रीयुत विजयराघवाचार्य ने अपनी कांग्रेस-स्पीच में कहा था—'रेवरेण्ड एंड्रूज में हावर्ड और काउपर दोनों की सम्मिलित मानव-जाति-सेवा का भाव विद्यमान है।' और अपनी अन्तिम स्पीच में उन्होंने फिर कहा था—'रेवरेण्ड एंड्रूज केवल हमारे बीच में ही नहीं रहते, बल्कि वे हमारे घर के ही हैं।'

—श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी

वे कितने सरल थे !

सन् १९३५ से १९४० तक—इन पाँच वर्षों के बीच वर्धा की सड़कों, गलियों और गरीब किसान-मजदूरों की झोपड़ियों में एक विशाल हृदय साधु को देखकर हमारे हृदय में क्या-क्या भावनाएँ उठती थीं, वे यहाँ नहीं लिखी जा सकतीं। आज वह साधु हमारे बीच में नहीं है; लेकिन उसकी वह भव्यमूर्ति हमारे मन पर हमेशा के लिये अमिट होकर अंकित हो गई है, जिसको हम अपने मन-मन्दिर में स्थापित कर जीवन-भर पूजते रहेंगे। उसकी नम्रता, निःस्वार्थ सेवापरायणता और असहाय दीनों की दीनबन्धुता हमारे हृदय पर गहरी छाप छोड़ गई है, और यही स्वर्गीय एंड्रूज की जीवन भर की साधना थी।

दीनबन्धु एंड्रूज जहाँ एक ओर बापू से हृदय और गले से लगकर मिलते थे, वहाँ दूसरी ओर भंगी के साथ भी उसी भाव से हृदय से हृदय और गले से गला मिलाकर मिलते थे। हमने ऐसे कितने ही शुभ अवसरों को देखा है। बापू और महादेव भाई से जब वे मिल लेते थे, तब तुरन्त अपने परिचित भंगी, चमार और धोबी के दरवाजोंपर जा-जाकर उनको गले से

लगाते थे। फिर एंड्रूज साहब उन्हें इस तरह छाती से चिपटा लेते थे जिस तरह बंदरी अपने बच्चों को छाती से चिपटा लेती है। जिनको छूने में हमारे लाखों भाई पाप समझते हैं, उन्हीं को गले लगाने में दीनबन्धु अपनी महत्ता समझते थे। इसी प्रेम के बल पर वे सबको अपने बाहुपाश में फँसा लेते थे। एक बार उनसे कोई मिला कि वह उनका सदा के लिये स्नेही बन गया।

दीनबन्धु बापू के साथ जहाँ घंटों बैठकर गहन विषयों पर विचार-विमर्श किया करते थे, वहीं वे दूसरी ओर पैदल चलकर गरीबों, अछूतों और मजदूरों के घरों में जाकर और अपने खाने-पीने तथा आराम करने की रत्तीभर भी परवा न कर उनकी कठिनाइयों को सुलझाने में तन-मन-धन से लग जाते थे। यहाँ तक कि वे कभी-कभी अपनी आवश्यक चीजों को भी उन गरीबों को भेंट कर दिया करते थे। इसी को देखकर बापू ने एक बार कहा था—'एंड्रूज अभी बालक हैं।'

एक मरतबा बापू के पास बैठे वे बातें कर रहे थे। थोड़ी देर में बात खत्म करके वे अपने डेरे पर लौट रहे थे। अचानक उनकी नजर फाटक पर चौकी देनेवाले दरबान पर पड़ी। वे झट तेजी से कदम बढ़ाते हुए उसके पास पहुँचे और उसके गले से गला और छाती से छाती मिलाकर लगभग पाँच-छः मिनट तक

आँसुओं की झड़ी लगाये मिलते रहे। इसके बाद उन्होंने अपना कुर्ता उतारकर उसे पहना दिया, और स्वयं वे नंगे बदन अपने डेरे में पहुँचे। फिर उन्होंने नया कपड़ा खरीदकर दूसरा कुर्ता अपने लिये सिलाया।

बापू और एंड्रूज साहब का क्या सम्बन्ध था, इसको लिखना बड़ा ही कठिन काम है। बापू ने ही उनका दीनबन्धु नामकरण किया था। बापू उनके शिक्षक, भाई, बन्धु और सर्वस्व थे; परन्तु बापू से यदि यह पूछा जाय, तो शायद ही वे हाँ कहें, क्योंकि एंड्रूज साहब भी बापू के संरक्षक, सहायक और सच्चे सलाहकार थे, जिसे बापू आज कदम-कदम पर महसूस करते हैं। वे उनके बिना अपने को कई मामलों मे अपंगु-सा मानते हैं। इन दोनों महापुरुषों के सम्बन्ध को विभाजित करना बहुत ही कठिन काम है। बापू का दीनबन्धु बापू के लिये क्या था, यह तो बापू ही निर्णय कर सकते हैं। लेकिन हम इतना अवश्य जानते हैं कि दीनबन्धु मुझसे कितनी बार कहा करते थे—'बिना बापू के मैं जिन्दा नहीं रह सकता। जब मैं विदेशों में रहता हूँ, तब भी मेरा दिल बापू में रमा रहता है। मैं बराबर उनको पत्र लिखा करता हूँ। जब मैं भारत वापस आता हूँ, तब आते ही सबसे पहले बापू के पास जाता हूँ और मिलता हूँ—चाहे कहीं भी बापू क्यों न हों।'

जिन्होंने एंड्रूज को नजदीक से देखा है, वे कहते हैं कि महात्माजी के बाद सच्चे भारत-हितैषी संत वे ही थे। जीवन की अन्तिम घड़ी तक भारत की सेवा और भलाई का ही वे चिन्तन करते रहे थे। आश्रम में जब वे पहुँचते, तब बच्चों को देखकर अट्टहास करते हुए उन्हें गोद में उठाकर तन्मय हो जाते थे। बच्चों को अपनी गोदी में बिठाकर खिलाने मे उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। अपनी सफेद, लम्बी और मुलायम प्यारी दाढ़ी को बच्चों के कोमल हाथों में पकड़वाकर खिच-वाने और नोचवाने में उन्हें बड़ा ही सुख मिलता था।

ऐसे कितने नेता होंगे, जो स्व० एंड्रूज की तरह बापू से हृदय खोलकर मिलते हों, गरीब किसान-मजदूरों की आड़े वक्त सेवा करते हों और किसी भी बच्चे को अपना बच्चा समझकर गोद में उठाकर तन्मय हो जाते हों?

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा] —प्रभुदयाल विद्यार्थी

दीनबन्धु एंड्रूज की स्मृति में—

है वह जीवन ही बस जीवन

दीन-दुखी का दुःख-निकन्दन
पतित प्राणियों का अवलम्बन
न्याय-सत्य का सतत समर्थन

है जिससे मानव-हित-साधन
है वह जीवन ही बस जीवन

जो है त्याग-सुगन्ध-सुगन्धित
है अनुराग-राग से रंजित
जो है करुणा-जल से सिंचित

जो है गंगा-जल-सा पावन
है वह जीवन ही बस जीवन

है जिसमें न तनिक भी लाघव
जग की पशुता से न पराभव
है जिसका समस्त भव बान्धव

है जिसका मानवता ही धन
है वह जीवन ही बस जीवन

जग के दुख से है जिसको दुख
उसके सुख में है जिसको सुख
स्वार्थ नहीं है जिसके सम्मुख
है जगमय जिसका अपनापन
है वह जीवन ही बस जीवन

—ठाकुर श्रीगोपालशरण सिंह

दीनबन्धु के जीवन पर एक सरसरी नजर

महात्मा गान्धी ने स्वर्गीय दीनबन्धु एंड्रूज के सम्बन्ध में एक जगह लिखा है—'एंड्रूज साहब से ज्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारतभक्त इस भूमि में कोई दूसरा देश-सेवक नहीं। उनके जीवन से शिक्षा ग्रहण कर भारतीयों को अपनी मातृभूमि की अधिकाधिक भक्ति करने के लिये उत्साहित होना चाहिये।' हालाँकि दीनबन्धु अब इस लोक में नहीं हैं, परन्तु उनका कार्य हमलोगों के सामने है। हमें अब उनके कार्य से शिक्षा प्राप्त करना चाहिये। दीनबन्धु एंड्रूज जो भी कार्य करते थे वह निःस्वार्थ होकर करते थे। उनके विषय में कहा जाता है कि जो काम वे करते थे, उनका दाहिना हाथ भी यह नहीं जानता था कि बायाँ हाथ क्या काम कर रहा है। महात्माजी ने एक जगह पर और लिखा है जब दीनबन्धु जीवित थे—'एंड्रूज साहब ख्यातिप्रेमी नहीं हैं और न नेता ही बनने की ख्वाहिश उन्होंने कभी भूलकर भी की।' महात्माजी का यह वाक्य उनके मरते दम तक सत्य रहा। नाम से हमेशा दूर रहकर उन्होंने ठोस कार्य किया है।

दीनबन्धु का जन्म एक अँगरेज-परिवार में हुआ था, किन्तु उनमें जातीयता और प्रान्तीयता का कहीं नामोनिशान नहीं था और भारत के प्रति उनके हार्दिक अनुराग की तो बात ही क्या! उनकी इस सचाई का ही परिणाम है कि कितने ही भारतीय नेताओं का तो ऐसा भी मत है दीनबन्धु केवल हमारे बीच में ही नहीं रहते थे, बल्कि वे हमारे घर के ही थे।

स्व० दीनबन्धु साहब का मत था कि 'भारत की स्वाधीनता के लिये हमारा जो संग्राम होना चाहिये, वह जातीय विद्वेष के निर्बल अस्त्र की सहायता से नहीं, बल्कि न्याय और प्रेम के अस्त्रों द्वारा होना चाहिये।' यही नियम वे सारी दुनिया के लिये बताते थे और स्वयं अपना जीवन इसके लिये उन्होंने भारतवर्ष में त्याग किया। स्वर्गीय दीनबन्धु की सरलता स्वाभाविक थी, उनमें कृत्रिमता और दिखावे का भाव नहीं होता था। उनका हृदय निर्मल दर्पण के समान था, जिसमें उनकी सचाई के दर्शन मिलते थे।

'दीनबन्धु का पूरा नाम 'चार्ल्स फ्रीजर एंड्रूज चार्ली' था। आपका जन्म इंगलैंड के उत्तरी भागस्थित कारलाइल नामक नगर में १२ फरवरी, सन् १८७१ ई० में हुआ था। आपके जीवन पर अपने माता-पिता का धार्मिक प्रभाव बचपन में बहुत अधिक पड़ा था। आपके माता-पिता ईसाई मत के

कट्टर अनुयायी थे। आप जब ६ बरस के थे, आपको भयकंर बीमारी हो गई थी। यहाँ तक कि आप ६ मास तक चारपाई ही पर पड़े रहे। आपके प्रति लोगों में यह निराशा छा गई थी कि आप अब नहीं बच सकते। बीमारी के दिनों में आपकी माताजी आपकी बड़ी सेवा किया करती थीं। एंड्रूज साहब ने लिखा है—'उन्हीं के प्रेम और सेवा के कारण हमारी जान बची।' 'पाठकगण यहाँ अनुमान कर सकते हैं कि जो मनुष्य लगातार महीनों बीमार रहता है, उसकी क्या दशा होती है; फिर एक भयंकर रोगी की क्या दशा लिखी जाय! इस बीमारी में कहा जाता है कि चारपाई पर पड़े-पड़े एंड्रूज साहब की कल्पना-शक्ति बहुत बढ़ गई थी। एंड्रूज साहब जब छोटे थे, तभी बैठे-बैठे पढ़ा करते थे। यात्रा-सम्बन्धी बहुत-सी पुस्तकें अपने बचपन ही में पढ़ डाली थीं। श्री एंड्रूज साहब की तन्दुरुस्ती अधिक मिहनत के कारण सदैव खराब रही है, इसलिये आपके माता-पिता और बहनें आपको पढ़ने से रोकते थे; किन्तु एंड्रूज साहब ने अपना पढ़ना कभी भी बन्द नहीं किया था।

श्री एंड्रूज साहब के माता-पिता विशेष धनवान् नहीं थे, लेकिन खाने-पीने का कष्ट किसी को न था। सन् १८८०-८१ ई० में जब चार्ली एंड्रूज साहब की उम्र लगभग

९-१० वर्ष की थी, एक घटना ऐसी घटी कि उससे आपका परिवार बिल्कुल निर्धन हो गया। उसके सम्बन्ध में श्रीएंड्रूज साहब ने स्वयं लिखा था—'मेरी माता के नाम कुछ सम्पत्ति थी। उसका जो मुख्य ट्रस्टी था, वह बड़ा दुष्ट निकला। हमारे घरवालों का वह बड़ा प्रेमी था और उस पर सबको विश्वास था, परन्तु एक दिन उसने मेरी माता का सब धन सट्टे में सर्वनाश कर डाला, जिसके कारण हम सब इतने गरीब हो गये कि हम बच्चों को खाने के लिये सिवा सूखी रोटियों के और कुछ नहीं मिलता था। हम सब को नगर के उस भाग में रहकर गुजर करनी पड़ती थी, जहाँ निर्धन आदमियों की बस्ती थी। इस प्रकार साधारण धनी से हम बिल्कुल निर्धन बन गये और पुत्रों और कन्याओं को शिक्षा देने के लिये हमारे माता-पिता को घोर परिश्रम करना पड़ता था।' लेकिन इस परिवार के हृदय की विशालता तो देखिये कि जिस आदमी ने श्रीएंड्रूज साहब के परिवार को निर्धन बनाया था, उसके प्रति आपके माता-पिता ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे कि 'हे परमात्मा, मेरे मित्र ने जो अपराध किया है, तदर्थ क्षमा प्रदान कीजिये। उसके हृदय में ऐसी प्रेरणा कीजिये कि वह अपनी भूल समझकर उसपर पश्चात्ताप करे और उत्तम रीति से अपना जीवन व्यतीत करे।' और हम सबको समझाते

कि 'देखो, तुमलोग अपने हृदय में मेरे मित्र के प्रति द्वेषभाव मत रखना। मैं मानता हूँ कि उसने घोर अपराध किया है, लेकिन मुझे आशा है कि आगे चलकर वह अपराधों को स्वीकार कर जीवन सुधार लेगा।' इस घटना का श्रीएंड्रूज साहब पर विशेष प्रभाव पड़ा था।

९ वर्ष की उम्र से लेकर २१ वर्ष की आयु तक उन्होंने स्कूल, कालेज और ४ वर्ष तक कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा की अन्तिम परीक्षा सम्मान के साथ पास कर ली थी। उनको विद्यार्थि-जीवन में बराबर पारितोषिक और छात्र-वृत्तियाँ मिलती रही हैं। वे अपने दर्जे में सबसे छोटे थे, लेकिन तीक्ष्णबुद्धि होने के कारण लिखने-पढ़ने में सदैव सर्वप्रथम स्थान पाते थे। निर्बलता के कारण कभी-कभी श्रीएंड्रूज साहब को विद्यार्थि-जीवन में मूर्च्छा भी आ जाया करती थी। स्कूल की दशा में उनको १५) रुपये मासिक छात्रवृत्ति, कालेज में ७५०) सालाना और विश्वविद्यालय में ४ वर्ष तक १२००) सालाना छात्रवृत्ति मिलती रही। इसी छात्रवृत्ति के कारण वे ऊँचे दर्जे तक पढ़ सके, यहाँ तक कि कभी-कभी उसीसे अपने घरवालों को भी सहायता पहुँचा दिया करते थे। श्रीएंड्रूज साहब को लैटिन और ग्रीक भाषाओं में कविता करने का बड़ा शौक था। गणित में उनका मन कभी नहीं लगता था। उससे उनको दिलचस्पी न थी।

एंड्रूज दीनबन्धु—एक विद्यार्थी के साथ

साधु दीनबन्धु

साहित्य से उनको अत्यन्त प्रेम था, घंटों पुस्तकालय में बैठे वे भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकों का अध्ययन किया करते थे। उनकी पढ़ने की ऐसी वृत्ति देखकर, लड़के उनको प्रोफेसर की उपाधि देकर चिढ़ाने लगे। आगे चलकर एंड्रूज साहब की कुछ निर्बलता दूर हो गई और वे स्कूल-कालेज में खेल में भी भाग लेने लगे थे। खेल-कूद के प्रति एंड्रूज साहब विशेष रूप से आकृष्ट हो गये। वे आसानी से स्कूल की क्रिकेट-टीम और कालेज की नौका-टीम में ले लिये गये। इसके कप्तान की हैसियत से आगे चलकर नाव-खेना सिखाने में उन्होंने काफी नाम कमा लिया। गोल्फ के प्रति उनका आकर्षण कम नहीं था। उनको स्कूली जीवन से ही नगरों की अशान्ति से बचने के लिये ग्राम-जीवन की सरलता और स्वतंत्रता अधिक आकर्षित करती रहती थी। जब वे पेम्ब्रोक कालेज में अध्ययन करते थे, तभी से उनके ऊपर माता-पिता के धार्मिक अन्धविश्वासों की जो छाप पड़ी थी, उसमें कुछ परिवर्त्तन होने लगा और वे सच्चे धर्म का शोध करने लगे। आगे चलकर अपने माता-पिता के धार्मिक सम्प्रदाय को छोड़कर, उन्होंने दूसरा सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया। धर्म की रूढ़ियों के सम्बन्ध में उनके विश्वासों में बहुत परिवर्त्तन हो गया। सबसे कठिन प्रश्न उनके सामने यह था कि बाइबिल निर्भ्रान्त है या नहीं?

बहुत-कुछ सोचने-विचारने के पश्चात् उन्होंने बाइबिल को निर्भ्रान्त मानना छोड़ दिया। एंड्रूज साहब के माता-पिता और करोड़ों ईसाइयों का यही यकीन है कि बाइबिल का प्रत्येक शब्द ईश्वर-प्रेरित है; परन्तु उन्होंने यह विश्वास सदा के लिये त्याग दिया। वे कहते थे—'इस विश्वास के छोड़ देने के बाद मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मैंने एक प्रकार की मानसिक दासता से मुक्ति पा ली।'

हिन्दुस्तान के प्रति उनका प्रेम बचपन से ही था। जब वे छोटे थे, तब अपनी माँ से कहा करते थे कि माँ, मैं हिन्दुस्तान जाऊँगा। एंड्रूज साहब ने बचपन में ही सुन रक्खा था कि हिन्दुस्तान में लोग चावल खाते हैं। इसलिये वे भी अभ्यासी बनने के लिये अपनी माँ से चावल बनवाकर खाया करते थे। जब वे कालेज में अध्ययन कर रहे थे, तभी उनकी भारत जाने की बहुत इच्छा हो गई थी। बचपन में एंड्रूज साहब को यह बताया जाता था कि ब्रिटिश राज्य के इतिहास में और दुनिया की तवारीख में अगर कोई प्रशंसनीय चीज है तो वह हिन्दुस्तान में अँगरेजों का राज्य ही है। एंड्रूज साहब के पिता इसे धर्म ही मानने लगे थे। एक अँगरेज बुढ़िया ने एंड्रूज साहब को बताया था कि 'मैंने सुन रक्खा है कि 'हिन्दुस्तान के लोग आदमी खा जाते हैं, तुम वहाँ मत जाओ।'

इसलिये पिता-पुत्र और दूसरे लोग साम्राज्यवाद के भक्त थे; किन्तु यह भक्ति पीछे बिल्कुल मिट गई और भारतवासियों के प्रति एंड्रूज साहब को बड़ी हमदर्दी हो गई। श्रीएंड्रूज साहब ने भारत मे आकर अपनी आँखों यहाँ की दशा देखकर अपने पिता को जो पत्र लिखा था, वह उन्हीं के लिखे हुए वाक्यों में पढ़िये—'मैंने यहाँ की सचाई की हालत और ब्रिटिश लोगों की करतूतों के बारे में अपने पिता को पत्र लिखा, तब पिताजी ब्रिटेनवालों की करतूतो से बहुत दुखी हुए और मेरी भक्ति ब्रिटिश सरकार की तरफ से एकदम उठ गई।' यह सच्चे महापुरुष की करामात है। श्रीएंड्रूज साहब को अन्धविश्वासों को न मानने के कारण बहुत तकलीफें उठानी पड़ी थीं, यहाँ तक कि वे अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिये गये थे। वे जो भी काम करते थे, वह अपने अन्तःकरण से उठी हुई ध्वनि के अनुसार। अपनी अन्तरात्मा के अनुकूल काम करने को वे सबसे श्रेष्ठ समझते और उसीके अनुसार काम करते थे।

जब एंड्रूज साहब ने कौलेज और विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण अध्ययन समाप्त कर लिया, तब उन्होंने दीन-दुखियों की सेवा करने के लिये सण्डरलैंड, पालवर्थ और दक्षिण-पूर्व लंडन में कार्य प्रारम्भ कर दिया। यहीं से उनके जीवन की कसौटी

कसी जानी प्रारम्भ हुई। वे जब गरीबों के बीच में सेवा करने के लिये गये तब उन्होंने निश्चय कर लिया था कि 'अगर मैं गरीब आदमियों के बीच रहूँगा, तो उनकी बराबरी का होकर रहूँगा, उनसे ऊँचा होकर नहीं। मैंने अपने हृदय में सोचा कि स्वयं क्राइस्ट निर्धन मनुष्यों के बीच निर्धन होकर रहे थे। और, जो लोग ईसाई मिशन के होकर भी प्रभु ईसा के आदर्श को नहीं मानते वे सच्चे मिशनरी कदापि नहीं हो सकते हैं। गरीबों के बीच स्वयं अमीर बनकर रहना और सेवा के प्रचारक होने का दावा करना—यह बात ईश्वर (क्राइस्ट) के आदर्श के लिये अपमानजनक है। इसीलिये उन्होंने मृत्यु तक एक मामूली-सा फकीर का बाना धारण करके अपना जीवन व्यतीत किया और वे स्वयं सब काम अपने हाथ से कर लिया करते थे।

जब एंड्रूज साहब गरीबों की बस्ती में रहकर सेवा-कार्य कर रहे थे, तब केवल अपने लिये दस शिलिंग प्रति सप्ताह गुजर के लिये लेते थे, इससे प्रायः कभी-कभी उनको भूखे पेट रह जाना पड़ता था। जिस मनुष्य ने कैम्ब्रिज के विश्वविद्यालय से सम्मान के सहित ऊँची डिग्री हासिल कर ली है, उसे बहुत अच्छी तरह नौकरी मिल सकती थी और वह अपनी जिन्दगी सुख-चैन से बिता सकता था; किन्तु नहीं, एंड्रूज साहब को

धन के प्रति कभी प्रेम न था। उन्होंने लक्ष्मी का उपासक कभी नहीं बनना चाहा; नहीं तो मरने के बाद लाखों रुपये छोड़ गये होते। गरीबों के साथ रहने से उनको बड़ा भारी अनुभव हुआ था। वे उस समय अच्छी तरह समझ गये थे कि मजदूरों को अपना पेट भरने के लिये कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। एंड्रूज साहब को गरीबों की भलाई के लिये कठिन-से-कठिन कष्ट उठाना पड़ा था और बहुत मामूली खाना खाना पड़ता था। इसी कारण एंड्रूज साहब को गरीब-से-गरीब लोग मित्र बन गये थे और अन्त समय तक लाखों की संख्या पहुँच गई थी।

एंड्रूज साहब को गरीबों की दशा देखकर अत्यन्त दुःख होता था। वे कहते थे—'बेचारे गरीब घंटों मिहनत करने पर भी भरपेट भोजन नहीं पाते हैं और ये पूँजीवाले सट्टा और फजूल खेल खेलकर, लखपती और करोड़पती बनकर मौज उड़ाते हैं। मजदूरों और किसानों का खून चूस-चूसकर भारी-भारी मुनाफे उठाते हैं।' इसे वे अन्यायपूर्ण समझते थे। इस गरीबी को दूर भगाने के लिये उन्होंने चार साल तक 'वालवर्थ' में मजदूरों की सेवा की। जब उनका स्वास्थ्य वहाँ असाधारण रीति से परिश्रम करते-करते जीर्णज्वर हो जाने के कारण खराब हो गया और दिमाग कमजोर होने लगा, 'तब डाक्टरों की राय

से उनको वह जगह विवश होकर छोड़ देनी पड़ी और आगे चलकर १८९९ में कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में नौकरी कर ली। 'वालवर्थ' में रहते समय उन्होंने किसी मजदूर को डाँट-फटकार नहीं बताई और न उपदेशक बनकर किसी को शिक्षा ही दी। उन्होंने जितने साल 'वालवर्थ' में मजदूरों के साथ मिलकर काम किया है, उसे वे अपने जीवन का सबसे अच्छा अंश कहते थे। 'वालवर्थ' में रहनेवाले हर प्रकार के लोग अपनी गुप्त-से-गुप्त बातें उनको बता दिया करते थे। कैम्ब्रिज में नौकरी करते समय उनको यह पूरा विश्वास हो गया कि बड़े आदमियों से दुनिया की गरीबी दूर नहीं होगी। यह बिलकुल रेत से पानी निकालने की कल्पना है। हाँ, उनकी कुछ सहानुभूति हो सकती है। एंड्रूज साहब को यदि शान्ति की कुछ आशा थी, तो निर्धन आदमियों ही से। वे आशा करते थे कि एक दिन ऐसा समय आवेगा, जब संसार के गरीब आपस में सहानुभूति रखना सीख जावेंगे और फिर धनवान् और शक्तिशाली लोगों की पराधीनता से स्वतन्त्र हो जावेंगे। उनका सबसे अधिक विश्वास गरीब पराधीनों—हाथ-पाँवों से मिहनत करनेवाले मजदूरों पर ही था; क्योंकि संसार भर के दीन-दुखी सब एक ही स्वभाव के हैं।

१२ फरवरी, सन् १९०४ में २३ वर्ष पूर्ण करने के बाद

पहले-पहल एंड्रूज साहब भारतवर्ष में पधारे। जिस दिन वे भारतवर्ष में आये, उसी दिन उन्होंने कहा कि अब मेरा दूसरा जन्म हुआ है और तब से लगातार भारतवासियों की सेवा करते रहे। आते ही उनको सेंट स्टीफेन्स कौलेज (दिल्ली) में प्रोफेसरी मिली। लेकिन स्वतंत्र विचार के होने की वजह से कुछ वर्षों के बाद वहाँ की प्रोफेसरी से त्याग-पत्र देकर शान्तिनिकेतन आदि जगहों पर अवैतनिक सेवा का कार्य करने लगे। मैं पहले लिख चुका हूँ कि एंड्रूज साहब में जातीयता और प्रान्तीयता नहीं थी। उसे अब मैं एक सच्ची घटना से उदाहरण देकर यहाँ साबित कर देना चाहता हूँ। जब एंड्रूज साहब को 'सेंट स्टीफेन्स' कौलेज में प्रिंसपल बनाने की बात चली, तब अँगरेजों की राय हुई कि वे ही प्रिंसपल बनें। एंड्रूज साहब से लोगों ने कहा कि हिन्दुस्तानी लोग प्रिंसपल के काबिल नहीं होते। एंड्रूज ने इसका घोर विरोध किया और एक हिन्दुस्तानी का नाम पेश किया तथा कहा कि यदि ये प्रिंसपल नहीं बनाये जायँगे, तो मैं यहाँ से त्याग-पत्र देकर चला जाऊँगा। अन्त में अधिकारियों ने उनकी बात मानी और रुद्र महाशय प्रिंसपल के पद पर योग्यता से काम करने लगे। एंड्रूज साहब की यह भी राय थी कि 'यहाँ रहकर यदि अँगरेज कुछ काम करना चाहते हैं तो उनका

फर्ज है कि वे हिन्दुस्तानियों की अधीनता में काम करें, यही उनके लिये सच्चा मार्ग है। भारत की सेवा करने के इच्छुक अँगरेजों के लिये यहाँ के कार्यों में प्रधान बनकर शासन करना बड़ी भूल है।' वे आगे और कहते हैं कि 'यदि कोई अँगरेज हिन्दुस्तान में आता है, तो उसको यहाँ का सेवक बनकर आना चाहिये। यहाँ जो भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं, उनमें परस्पर मेल करायें, और भेदभाव दूर करने की शिक्षाएँ दें, यही उनकी हार्दिक इच्छा होनी चाहिये।' एंड्रूज साहब को यहाँ के रहनेवाले अँगरेजों और एंग्लोइंडियन लोगों की फजूलखर्ची और मूर्खता से बड़ा दुःख होता था। १९०६ से एंड्रूज साहब का झुकाव राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर भी होने लगा और कुछ दिनों के बाद वे भारत के पूरे राष्ट्रवादी ही हो गये एवं स्वतंत्रता के बड़े हिमायती बन गये। हिन्दुस्तान की भलाई के लिये उन्होंने सैकड़ों लेख और लगभग दो दर्जन पुस्तकें लिखी थीं। एंड्रूज साहब की राष्ट्रीयता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई और शासकगण उनसे भयभीत हो गये। वे कहने लगे कि एंड्रूज को हिन्दुस्तान से निकाल देना चाहिये। एक बार ऐसा मौका आया कि एंड्रूज पंजाब-वासियों की सेवा करने के लिये वहाँ गये थे, तब उनको खतरनाक व्यक्ति समझकर पंजाब-सरकार ने वहाँ से निर्वासित भी कर दिया था।

एंड्रूज साहब भारत की स्वाधीनता के क्यों पुजारी बने थे, उन्हींके शब्दों में पढ़ लीजिये—'मैंने यूरोपियनों को हिन्दुस्तानियों के साथ बहुत बुरा बर्ताव करते देखा है। कभी-कभी तो खून खौलने लगता है। और, मैं अपने दिल में कहने लगता हूँ कि मेरी जाति में अँगरेज मेरे हैं और हिन्दुस्तानी मेरे भाई हैं।' उनके जीवन पर महात्मा टाल्स्टाय की पुस्तकों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उनके ग्रन्थों को पढ़कर वे बहुत प्रभावित हो उठते—हो गये थे। सन् १९१२ मे कुछ दिनों के लिये विलायत चले गये थे। वहीं महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट हुई तभी से उन दोनों में गाढ़ी मित्रता हुई जो अन्त समय तक कायम रही। एंड्रूज साहब एक तरह से शान्तिनिकेतन के वासी हो गये थे। सन् १९१३ में वे महात्मा गोखले की आज्ञा से दक्षिण अफ्रिका में भारतीय प्रवासियों की मदद करने के लिये गये और महात्मा गांधी से उनकी पहली मुलाकात हुई। इस मुलाकात से वे महात्माजी की सरलता, सचाई और त्याग आदि बातों को देखकर अत्यधिक आकर्षित हो गये। तब से वे महात्माजी के निकट सम्पर्क में लगातार आते गये और उन दोनों महापुरुषों मे बड़ी गाढ़ी मित्रता हो गई थी। दीनबन्धु ने लगभग ३० साल तक भारतीय प्रवासियों की बड़ी सेवा की है। उन्होंने भारतीय प्रवासियों की अत्यधिक

सेवा की और अनेक यातनाएँ सहीं। वे भारतीय प्रवासी भाइयों के लिये जो काम कर गये हैं उसके कारण उनका इतिहास स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। उनका अधिक जीवन प्रवासी भाइयों की भलाई में ही बीता था। भारत के प्रवासी भाइयों पर विदेश में नाना प्रकार के जो अत्याचार होते थे, उन्होंने उनको बन्द कराने के लिये अथक परिश्रम किया था। अनेकों हिन्दुस्तानियों को उन्होंने अपने लेखों और पुस्तकों के रुपये से मदद पहुँचाई थीं। उनको भारतीय प्रवासी भाइयों की दशा सुधारने के लिये कितनी ही बार दक्षिण अफ्रिका, नेटाल, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, चीन और जापान आदि देशों की यात्रा, बीमारी की दशा में भी, दिन-रात करनी पड़ी थी और भारत के गरीब गाँवो में भी जा-जा करके अच्छी तरह उनकी दशा का अध्ययन किया है। भारत की स्थिति समझने के लिये शुरू में उनको श्रीरुद्र महाशय से बड़ी सहायता मिली थी। वे दीनबन्धु के घनिष्ठ मित्र भी थे।

वे विशेषकर दीन-दुखी समुदाय, छोटे-छोटे बालकों, विद्यार्थियों और माताओं से अत्यधिक प्रेम और सहानुभूति रखते थे। उनके जीवन की एक बड़ी विशेषता यह थी कि जब उनके माता-पिता का देहान्त हो रहा था, वे उस समय भारत के प्रवासी भाइयों की सेवा में इस तरह व्यस्त थे कि

तार पाने पर भी उनकी मृत्यु के समय इंगलैंड न जा सके और न इसी लिये उन्होंने व्याह ही किया। वे आजन्म ब्रह्मचारी का व्रत लेकर सेवा करते रहें। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्मत्याग, नम्रता, परोपकार, दीन-सेवा और सादा जीवन व्यतीत करने का था और उसे अन्त समय तक पूरा किया। आप सचमुच ईश्वर (ईसा) के भेजे हुए एक प्रेम के अवतार थे।

दीन-बन्धु-लिखित कुछ पुस्तकों के नाम ये हैं—

1. The Inner life.
2. Christ and Human Need.
3. John White of Mashonaland.
4. Christ in the Silence.
5. What I owe to Christ.
6. Mahatma Gandhi's Ideas.
7. Mahatma Gandhi ; His own Story.
8. The Indian Problem.
9. India and the Simon Report.
10. Renaissance in India.
11. Letters to a friend.
12. To the Students.
13. Sadhu Sunder Singh.

'सबकी बोली' कार्यालय, वर्धा] —प्रभुदयाल विद्यार्थी

हिन्दी और दीनबन्धु एंड्रूज

स्वर्गीय दीनबन्धु श्रीएंड्रूज का नाम उन चुने हुए मनुष्य-रत्नों में स्मरण करने के योग्य है, जिन्होंने अपनी कृतियों और अपने जीवन से संसार के सामने मनुष्यत्व का ऊँचा आदर्श रक्खा है।

प्रयाग में तथा प्रयाग से बाहर भी उनसे मेरी बातें कई बार हुई हैं। एक बार प्रयाग के एक मित्र के स्थान पर मुझे उनके तथा कुछ अन्य मित्रों के साथ भोजन करने का भी अवसर प्राप्त हुआ था।

हिन्दी की शक्ति उन्होंने पहचानी थी, और जहाँ तक मैंने उनकी बात समझी, वे इस सिद्धान्त के माननेवाले थे कि देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है और राष्ट्रीय कामों में हिन्दी को स्थान मिलना उचित है।

शान्तिनिकेतन में हिन्दी का काम आरम्भ करने के बारे में मेरा उनसे पत्र-व्यवहार भी हुआ था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से शान्तिनिकेतन को हिन्दी-कार्य के लिये आर्थिक सहायता भी श्रीएंडरूज की प्रेरणा से दी गई थी

एक बार यूरोप में पढ़नेवाले एक विद्यार्थी को सहायता पहुँचाने के बारे में भी उन्होंने मुझे लिखा था और उस विषय में पत्र-व्यवहार हुआ था।

एंड्रूजजी का सेवा-भाव और प्रेम छोटी-छोटी बातों में भी टपकता था।

उन्होंने कई क्षेत्रों और कई अवसरों पर हमारे देश की जो सेवाएँ की हैं, वे प्रेम, श्रद्धा और कृतज्ञता से भारतीयों की स्मृति में अंकित रहेंगी, यह मेरा हृदय कहता है।

—श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन

मेरी आत्म-कहानी

सब मिलाकर मेरी आत्म-कहानी बड़ी मनोरंजक है। मेरा जन्म १२ जनवरी, १८७१ को कारलाइल में हुआ था, पर मेरा बाल्यकाल अधिकांशतः न्यूकैसल-आन-टाइन में ही बीता। इसलिये मैंने अपने आपको 'टाइनवाला' ही समझा है और उत्तरी इंगलैंड से मेरा विशेष स्नेह रहा है। मेरी ननसाल स्काटलैंड के पहाड़ी प्रदेश में थी और पिताजी इंगलैंड के पूर्वी प्रदेश में रहते थे। इस प्रकार मेरी नसों में सेल्टिक और एंग्लोसेक्सन दोनों ही खून हैं।

हमारा परिवार बड़ा सुखी था। परिवार में माताजी और पिताजी के अलावा हम कुल १४ बच्चे थे। मेरे पिता एक आदर्शवादी पादरी थे जिन्हें संसारी झंझटों से जैसे कोई वास्ता ही नहीं था। इसलिये माताजी को काफी किफायतसारी करनी पड़ती थी। घर के सारे काम-धंधों की देख-भाल प्रायः वे ही करती थीं। अतः मैंने अपने जीवन की अधिकांश बातें—और खासकर समय के एक-एक क्षण का सदुपयोग करना—उन्हीं से सीखीं। माताजी के लिये इतने लड़के-लड़कियों के परिवार

को सँभालना कम श्रमसाध्य नहीं था; पर हमलोग परस्पर सहायता करने के अतिरिक्त घर के कामों में भी थोड़ा-बहुत उनका हाथ बँटाया करते थे। इस प्रकार ब्रिटेन में हमारा परिवार काफी संतुष्ट और उदार था।

वाल्यकाल—मेरे बाल्यकाल में ही हमारा परिवार न्यूकैसल-आन-टाइन से मिडलैंड्स चला आया था। इसलिये वयस्क होने तक मेरी शिक्षा किंग एडवर्ड अष्टम स्कूल, बर्मिंघम में ही हुई। प्रसिद्ध कलाकार बर्न जोन्स तथा लाइटफुट और वेस्टकोर्ट ने भी अपनी प्रारंभिक शिक्षा इसी स्कूल में पाई थी। इस स्कूल में और आगे चलकर केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में, मुझे इतनी छात्रवृत्तियाँ मिलीं कि न सिर्फ मैं विना घर से कुछ लिये स्वावलंबन पूर्वक अपनी शिक्षा ही जारी रख सका, बल्कि अपने छोटे भाई-बहनों की सहायतार्थ उनमे से कुछ बचाकर भी भेज सका।

अपने स्कूल और कालेज जीवन में व्यायाम और खेल-कूद के प्रति मैं विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। अतः आसानी से मैं अपने स्कूल की क्रिकेट टीम और कालेज की नौका-टीम (Rowing team) में ले लिया गया। इसके कप्तान की हैसियत से आगे चलकर नाव खेना सिखाने में मैंने काफी नाम कमा लिया। गोल्फ के प्रति भी मेरा आकर्षण कम नहीं रहा है।

जब मैं विश्वविद्यालय के पेंब्रोक कालेज में था, तब बचपन के समुद्र-यात्रा के विचार ने अनायास फिर करवट ली। इसी संकल्प के साथ मेरी उस धार्मिक भावना का भी गठबंधन हो गया, जो इस समय मेरे जीवन और चरित्र का मुख्य आधार बन गई थी। मुझे पहला खयाल यह हुआ कि क्यों न मैं भी दक्षिण अफ्रिका को जानेवाले विश्वविद्यालय के मिशन में भर्ती हो जाऊँ? पिछले कई वर्षों से मैं अफ्रिका में जाकर इस तरह का काम करने की बात सोच रहा था। मेरा खयाल है कि मैंने अफ्रिका-सम्बन्धी ऐसी प्रत्येक पुस्तक पढ़ी है, जिसमें साहसिक घटनाओं अथवा दुर्घटनाओं का वर्णन था। लिविंगस्टन की अफ्रिका-यात्राओं के साहसिक वर्णनों ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित एवं आकर्षित किया।

इन्हीं दिनों मेरी मित्रता एक ऐसे व्यक्ति से हुई; जिसका महत्त्व मेरे लिये सबसे अधिक था और जिसने मेरे जीवन के भावी इतिहास की रूप-रेखा ही बदल दी। ऐसे व्यक्ति थे डरहम के वयोवृद्ध संत बिशप के सबसे छोटे लड़के बेसिल वेस्टकोट, जो कौलेज जीवन में ही मेरे घनिष्ठ मित्र हो गये थे। इन्होंने कैंब्रिज विश्वविद्यालय मिशन की ओर से अध्यापक होकर दिल्ली जाना तय कर लिया था। इनके निश्चय ने मेरा ध्यान भारत की ओर आकृष्ट किया और मैंने सोचा कि मेरे जीवन का भावी

कार्यक्षेत्र भारत ही हो सकता है।" पर अभी तक मैंने कोई अन्तिम निर्णय नहीं किया था, अतः रह-रहकर अफ्रिका मुझे अपनी ओर खींच रहा था।

पादरी-जीवन में दीक्षित—अपने जीवन के छः श्रेष्ठ वर्ष कौलेज में बिताने के बाद सन् १८९६ में मैं उसे छोड़ने जा रहा था। इसके कुछ ही दिन पूर्व मुझे यह आश्वासन मिला कि अपने कौलेज में 'फेलोशिप' का स्थान रिक्त होते ही सबसे पहले मुझे दिया जायगा। इसी बीच मैंने पादरी होने की दीक्षा ले ली और ईसाइयों के सामाजिक दृष्टिकोण के अनुसार मजदूर-आन्दोलन में काफी दिलचस्पी लेने लगा। डरहम के बिशप और कैनन हेनरी स्काट हालैंड इस आन्दोलन के नेता थे, जिन्हें मैं बड़ी श्रद्धा और आदर से देखता था। इसीसे प्रेरित होकर मैंने सोचा कि जबतक कौलेज के स्टाफ में कोई जगह खाली हो, इंगलैंड की मजदूर-बस्तियों की स्थिति को ही क्यों न देखूँ? फलतः सबसे पहले मैं उत्तरी इंगलैंड के संडरलैंड प्रदेश में गया। वहाँ मैं कुछ समय तक बड़े आनन्द से जहाज बनाने के कार-खानों में काम करनेवाले मजदूरों के साथ रहा। अपनी जन्म-भूमि के निकट होने के कारण उत्तरी इंगलैंड के इस प्रदेश मे मैं अभी कुछ दिन और रहना चाहता था; पर सहसा पेंब्रोक कौलेज मिशन की ओर से मुझे पुरानी केंट रोड के पास दक्षिण

पूर्वी लंदन की गरीब बस्तियों के सेवा-कार्य की अध्यक्षता स्वीकार करने को बुला लिया गया। उस स्थान के—जिसे चार्ल्स बूथ के नक्शे में लंदन की गरीब बस्तियों के बीच में एक 'काले धब्बे' के रूप में दिखाया गया है—जहाज पर सामान लादने उतारनेवाले मजदूरों और फल वगैरह की फेरी करनेवालों के साथ मैंने कई वर्ष बिताये। यह बस्ती एक तरह से चोरों की थी और मेरी उम्र के प्रायः सभी नौजवान या तो चोर थे या गिरहकट (पाकिटमार)। इनमें से कुछ पुलिसवालों के गहरे हमजोली भी थे। शराब पीने का इनमें आम रिवाज-सा हो चला था। अक्सर शनिवार को आधी-आधी रात गये मुझे जाकर शराब पीकर झगड़नेवाले स्त्री-पुरुषों में बीच-बचाव करना पड़ता था।

यहीं रहते हुए पहले-पहल मेरा स्वास्थ्य बुरी तरह बिगड़ा। इसी समय मुझे अपने कौलेज में 'फेलोशिप' स्वीकार करने का आमंत्रण मिला। केम्ब्रिज के नवयुवक छात्रों में काम करने की महत्ता और आवश्यकता से भी बढ़कर अपने स्वास्थ्य की दृष्टि से मैंने इस आमंत्रण को स्वीकार कर लिया। लंदन की इन गरीब बस्तियों में काम करने का परिश्रम मेरे लिये मेरी सहन-शक्ति से अधिक साबित हुआ।

पर, मेरा हृदय तो समुद्र पार जाने को अधीर हो रहा था। इसी समय मेरे मित्र बेसिल वेस्टकोट की मृत्यु विचित्र परि-

दीनबन्धु एंड्रूज की माँ
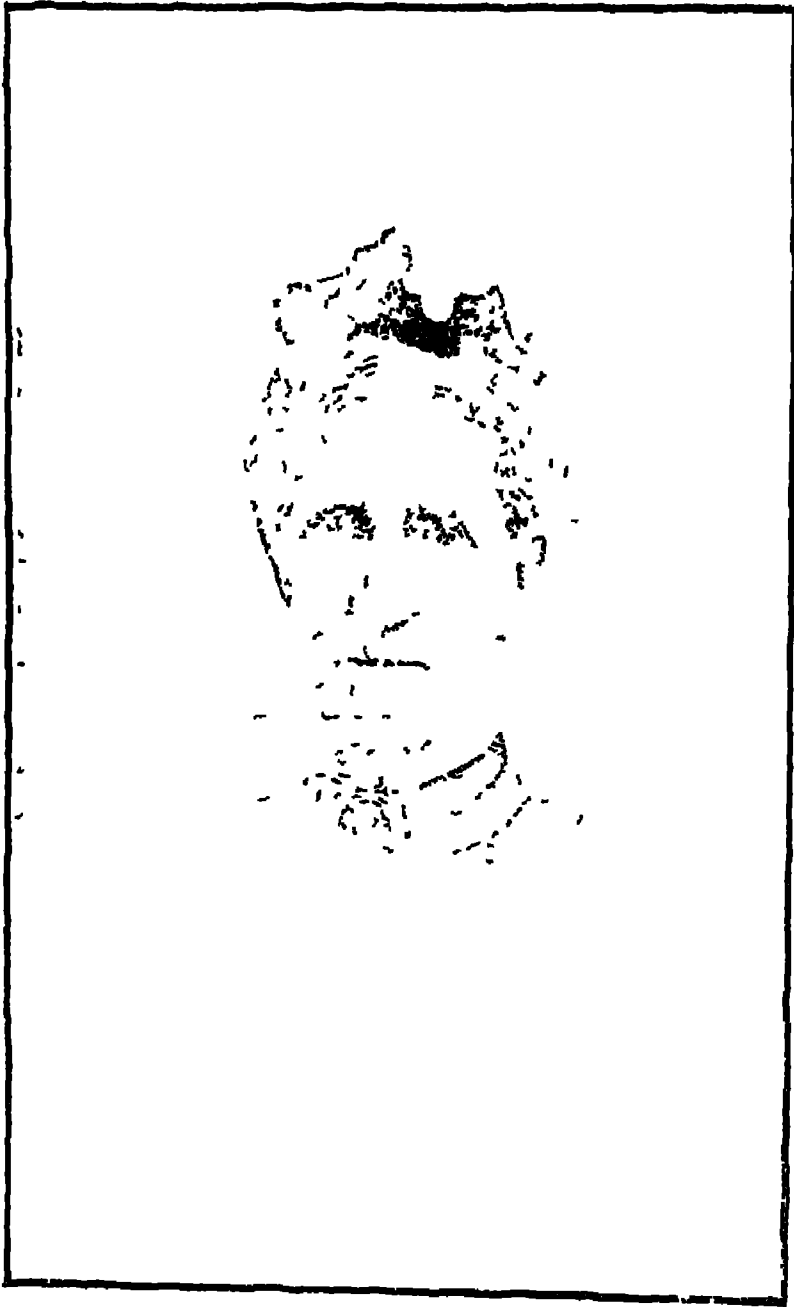
साधु एंड्रूज साहब

एंड्रूज साहब के पिता

स्थितियों में दिल्ली में हो गई। उनका स्वास्थ्य कभी भी बहुत अच्छा नहीं रहा। एक रात को उन्होंने दिल्ली के किले में हैजे से बीमार पड़े एक गोरे सैनिक की तीमारदारी का भार अपने ऊपर लिया। दूसरे दिन स्वयं बेसिल वेस्टकोट हैजे से आक्रांत हो गये और कुछ ही घंटों में उनकी मृत्यु हो गई। मेरे हृदय को इससे जबरदस्त धक्का लगा और मुझे भारत जाकर उनके कार्य का भार अपने ऊपर लेना एक ऐसा पवित्र कर्त्तव्य मालूम हुआ, जिसे मैं टाल नहीं सकता था। अतः केम्ब्रिज में चार साल तक अध्यापन कार्य करने के बाद मै केम्ब्रिज विश्वविद्यालय मिशन की ओर से काम करने के लिये हिंदुस्तान को रवाना हो गया।

भारत-आगमन—दिल्ली पहुँचने पर मेरा सबसे पहला काम था अपने आपको कौलेज जीवन के अनुरूप बनाना और भारतीय छात्रों को अँगरेजी इतिहास और साहित्य पढ़ाना। शीघ्र ही मैं दिल्ली-विश्वविद्यालय के सिंडीकेट में भी चुन लिया गया। इसीके द्वारा काम करते हुए मैं भारत के कई नेताओं के सम्पर्क मे आया। इसके फलस्वरूप मेरी आँखें खुलीं और मैंने भारतीय महाद्वीपों में चलनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलन को देखा-समझा। रूस और जापान का युद्ध अभी खत्म ही हुआ था और भारत भर में पूर्व के एक राष्ट्र (जापान) की पश्चिम के

एक राष्ट्र (रूस) पर हुई विजय का वाहवाही हो रही थी। कई प्रकार से भारत के देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन को इसीसे बड़ा उत्तेजन मिल रहा था। पहले-पहल एक शिक्षण-शास्त्री की हैसियत से मैं इस आन्दोलन की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ, क्योंकि इसमे मुझे नवीन भारत और सुतरां नवीन एशिया के निर्माण की क्षमता दीख पड़ी, जिसमें पूर्व और पश्चिम दोनों का सम्मिलन हो सके।

प्रवासी भारतीय आन्दोलन—इस समय प्रवासी भारतीयों के प्रश्न की पृष्ठ-भूमि में भारत और दक्षिण अफ्रिका के सम्बन्ध ने मेरा ध्यान फिर उसकी ओर आकृष्ट किया और मुझे अपने जीवन का मिशनरी के रूप में केंद्रीय अफ्रिका जाने का संकल्प फिर याद हो आया। उन दिनों भारत और दक्षिण अफ्रिका का पारस्परिक संबंध इस बात पर निर्भर करता था कि शर्त्तबन्द भारतीय कुली नेटाल भेजे जायँ या नहीं। स्व० गोखले ने इस प्रश्न को बड़े जोरों से उठाया। इस सम्बन्ध में उन्होंने तथा अन्य भारतीयों ने जो कुछ लिखा, उसे मैंने बड़े ध्यान से पढ़ा था। साथ ही मैं भारतीय शिक्षा के संपर्क में भी आया। इस प्रकार मैंने शर्त्तबन्द कुली प्रथा और कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण-अफ्रिका से राष्ट्रीय भारत का क्या सम्बन्ध हो, इस सम्बन्ध में भारतीय लोकमत जाना।

भारत के सुशिक्षित नेताओं ने मुझे बतलाया कि एक ओर जहाँ गोरे राष्ट्र भारतीयों के बसने के लिये अपने द्वार बन्द किये हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर कई उपनिवेशों में आज भी अपमानजनक शर्त्त-बन्द कुली प्रथा प्रचलित है, जो गुलाम-प्रथा से कुछ ही कम है। उन्होने कहा कि जहाँ इन नये देशों के द्वार शिक्षित भारतीयों को बसने देने के लिये एकदम बन्द हैं, वहाँ अशिक्षित भारतीय मजदूर उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती पकड़कर ईख के खेतों में काम करने के लिये ले जाये जाते हैं। इस समस्या ने—और खास तौर से दक्षिण-अफ्रिका ने—जो इस समय शर्त्तबन्द कुली-प्रथा के विरुद्ध होनेवाले आन्दोलन का केन्द्र बन रहा था—मुझे बहुत प्रभावित किया मेरी यह उत्कट अभिलाषा हुई कि मैं स्वयं अफ्रिका जाकर इस विषय में जाँच करूँ।

सन् १९०६ में जब भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड मिंटो ने मुझे बुलाकर नेटाल में भारतीयों के बसने जाने देने के सम्बन्ध में मेरी सम्मति चाही, तब मैंने बड़े जोरदार शब्दों में इसका विरोध करते हुए कहा कि शर्त्तबन्द कुली प्रथा के अपमानजनक रूप में भारतीयों को वहाँ ले जाकर बसाना बहुत बड़ी मूर्खता का काम है। स्व० गोखले से मुझे यह मालूम हो गया था कि यदि इस तरह के अपमानजनक रूप में भारतीयों

का अफ्रिका में बसाया जाना जारी रहा तो स्वभावतः स्थिति बड़ी गंभीर हो जायगी और आश्चर्य नहीं, यदि इसके फल-स्वरूप भारत और अन्यान्य उपनिवेशों का मैत्री-सम्बन्ध खतरे में पड़ जाय। बाद में इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि यदि यह अपमानजनक प्रथा बहुत पहले बन्द कर दी गई होती तो इसे लेकर बाद में जो संकट उपस्थित हुआ, वह उस रूप में शायद न होता।

दक्षिण अफ्रिका—सन् १९१२ के बाद से तो यह समस्या मेरे जीवन का केंद्र-बिंदु बन गई। इधर मैंने अपना दिल्ली का शिक्षण-कार्य छोड़कर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांति-निकेतन शिक्षा-आयतन में कार्य करना स्वीकार कर लिया था। पर गुरुदेव ने मुझे शांति-निकेतन में कार्य आरम्भ करने से पूर्व कुछ दिनों के लिये दक्षिण-अफ्रिका जाने की छुट्टी दी, क्योंकि वहाँ स्थिति काफी गंभीर हो चली थी। इस प्रकार मुझे नेटाल के उस सत्याग्रह में भाग लेने का अवसर मिला, जिसे महात्मा गांधी ने ३ पौंड के 'पोल टैक्स' को हटाने के लिये शुरू कर रक्खा था।

मेरे अफ्रिका पहुँचने के बाद ही जनरल स्मट्स ने आंदोलन के नेताओ से बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। फलतः महात्मा गांधी मुझे अपने साथ लेकर प्रीटोरिया के लिये चल

पड़े। उन दिनों रेलों और जोहेन्सबर्ग में मार्शल-ला जारी था। ट्रेन डाइनासाइट से उड़ाई जा रही थीं और जीवन खतरे से खाली नहीं था। अशांति और क्षोभ के इस वातावरण में प्रवासी भारतीयों के प्रश्न को लेकर सरकार से सुलह हुई और प्रसिद्ध स्मट्स-गांधी समझौते पर हस्ताक्षर हुए। मुझे यह याद-कर बड़ी खुशी होती है कि जिस समय जनरल स्मट्स ने समझौते के मसविदे पर अपने हस्ताक्षर किये, मैं वहीं उपस्थित था।

अपने नेटाल-प्रवास के दौरान मे मुझे नेटाल की बैरकों में जीवन बितानेवाले शर्त्तबन्द भारतीय कुलियो की स्थिति का अध्ययन करने का मौका मिला। उन बैरकों में होनेवाली आत्म-हत्याओं की बढ़ती हुई संख्या ने मुझे कँपा दिया। इस प्रकार जब मैं भारत लौटा तब मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ हो चुका था कि भारतीय कुलियों की शर्त्तबन्द कुली-प्रथा न केवल एक बहुत बड़ी भूल या मूर्खता ही है, बल्कि एक जुर्म भी।

फिजी—दूसरे वर्ष—जो कि गत यूरोपीय महायुद्ध का प्रथम वर्ष था—बंगाल में मुझे हैजा हो गया। मेरी अवस्था कोई ३६ घंटे तक तो इतनी नाजुक रही कि बचने की कोई आशा ही नहीं रही और हँसी की बात तो यह है कि मेरे शव को दफनाने के लिये कब्र भी खुद चुकी थी! इसके बाद मैं

स्वस्थ तो हो गया; पर मेरे शरीर में जरा भी दम नहीं रह गया था और महीनों जीवन और मृत्यु के बीच लटका रहा। इसी बीच सरकार-द्वारा प्रकाशित एक 'ब्लू बुक' से मुझे यह ज्ञात हुआ कि फिजी द्वीप के शर्त्तबंद भारतीय कुलियों की स्थिति नेटाल के कुलियों से कहीं बदतर है। वहाँ नेटाल से लगभग दुगुनी आत्म-हत्याएँ होती थीं। इसी से मैंने अंदाज लगाया, जो बेचारे ग्रामीण भारतीय जबरदस्ती पकड़कर उस सुदूर द्वीप में ले जाये गये हैं; उनकी अवस्था कितनी दुःखद अथवा दयनीय है। शीघ्र ही मैंने फिजी जाने का निश्चय किया। जब मैं ठीक हुआ और फिजी रवाना हुआ, तब मैंचेस्टर के डा० सेमुअल पियर्सन के सुपुत्र डब्लू० पियर्सन भी मेरे साथ हो लिये।

फिजी के शर्त्तबंद भारतीय कुलियों की स्थिति की जाँच करके लौटते हुए हम मार्ग में न्यूजीलैंड उतर पड़े। वहाँ और फिर आस्ट्रेलिया में भी हमने 'गोरे आस्ट्रेलिया' की नीति का अध्ययन किया। इस यात्रा से लौटकर हमें यह विश्वास हो गया कि शर्त्तबंद भारतीय कुलियों की समस्या का एक मात्र हल वही हो सकता है, जो स्व० गोखले ने बतलाया है— अर्थात् भारत से शर्त्तबंद कुली प्रथा के अन्तर्गत लोगों को जबरदस्ती 'पकड़कर ले जाने' का चलन एकदम बन्द किया जाय

और जो भारतीय ब्रिटिश उपनिवेशों में बस गये हैं, उनके साथ सम्मान एवं शिष्टता का बर्त्ताव किया जाय।

चीन और जापान की यात्रा—दूसरे वर्ष जब गुरुदेव चीन और जापान गये, तब मुझे भी अपने साथ लिवा ले गये। उनके साथ घूमकर मुझे सुदूर पूर्व के लोगों की रहन-सहन को देखने की आश्चर्यजनक सुविधा प्राप्त हुई। इसके एक वर्ष बाद ही सन् १९१७ में मुझे फिर फिजी जाना पड़ा। इस बार फिजी जाने का मेरा मुख्य उद्देश्य था शर्त्तबंद भारतीय कुलियों की स्थिति की अपनी अपूर्ण जाँच को पूरा करना और इस नाशकारी प्रथा को अन्तिम रूप से खत्म करने में सहायता पहुँचाना।

फिजी से लौटकर मैं यद्यपि शांतिनिकेतन में रहने लगा था; पर मेरा ध्यान उपनिवेशों से भारत का क्या संबंध रहे, इसी समस्या पर केंद्रित था। यहाँ रहकर कई बार मुझे भारतीय मजदूरों और मालिकों के झगड़ों को निबटाने के लिये पंच भी बनना पड़ा। इस प्रकार भारतीय मजदूरों की समस्याओं का थोड़ा-बहुत ज्ञान और अनुभव भी मुझे हो गया। शायद इसी के फलस्वरूप दो बार मैं सर्वसम्मति से भारतीय रेलवे कर्मचारी-संघ का सभापति चुना गया। यह संघ भारत में श्रमजीवियों का सबसे बड़ा संघ है। इसके बाद तो मैं अखिल भारतीय ट्रेड

यूनियन कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कौंसिल का अध्यक्ष भी बनाया गया।

इसके बाद के वर्षों में मुझे जिन घटनाओं से संबद्ध रहना पड़ा है, उन सब का ब्यौरेवार वर्णन करना कठिन है। इनमें से अधिकांश का संबंध अफ्रिका से ही रहा है। दो बार मुझे पूर्वी अफ्रिका के केनिया प्रदेश में बसे प्रवासी भारतीयों और सरकार के झगड़ों को निबटाने के लिये केनिया जाना पड़ा। इस प्रकार मेरे जीवन के पिछले १५ वर्षों में से आधा समय प्रायः अफ्रिका में और आधा भारत में बीता। इस प्रकार आंशिक रूप में मेरा बचपन का अफ्रिका आने और वहीं अपना घर बनाने का संकल्प स्वप्न-सत्य सिद्ध हुआ। जब-जब मैं अफ्रिका आया हूँ, इसके प्रति मेरा स्नेह और भी बढ़ गया है। यह एक ऐसा महादेश है जिसने मेरे मन को बाँध लिया है। इस बार पूरे आठ मास तक दक्षिण अफ्रिका में रहने के बाद भी शांतिनिकेतन के शांतिपूर्ण वातावरण में पहुँचने से पहले मेरा जी इसके अन्यान्य प्रशस्त भागों की यात्रा करने का ही रहता है।

गुरुदेव का संसर्ग—अन्त में मैं थोड़ा-सा उस जीवन के बारे में भी जिक्र कर दूँ, जो मुझे गुरुदेव के संसर्ग में शान्तिनिकेतन में बिताना पड़ा है। जब भी मुझे विविध सार्व-

जनिक कार्यों से कुछ फुर्सत मिलती है और शांति-निकेतन में रहकर पढ़ने तथा काम करने का मौका मिलता है, तब गुरुदेव के इस विश्वविख्यात शिक्षा-आयतन में मेरा अनुभव निम्न प्रकार का होता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि शांतिनिकेतन-जैसे स्थान और यहाँ के वातावरण मे आकर दक्षिण-अफ्रिका या पश्चिमी देशों मे अपनाई गई मेरी पाश्चात्य पोशाक और आदतें अनायास छूट गईं। शांतिनिकेतन में मैं स्वभावतः पूर्व की सरलतम वेश-भूषा में रहता हूँ। पूर्व के लोगों का ही भोजन करता हूँ और उन्हीं के से कपड़े पहनता हूँ। कई लोगों ने मुझसे पूछा कि ऐसा करने से मेरे स्वास्थ्य को कुछ नुकसान तो नहीं हुआ ? मेरे लिये इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देना संभव नहीं है। कुछ अंशों में ऐसा करना स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत अच्छा नहीं भी हुआ, लेकिन दूसरी ओर इससे मुझे यहाँ की अतीव गर्मी की कठिनाइयों को सहन करने में आसानी भी हुई।

गुरुदेव स्वयं प्रातःकाल पौ फटने से भी पहले उठते हैं। इसलिये मेरा भी उनके उठते ही शय्या-त्याग करने का स्वभाव सा हो गया। उठने के बाद कुछ समय गुरुदेव शांतिपूर्वक ईश्वर-स्मरण और मनन में व्यतीत करते। पूर्व के जीवन के इस आनन्द से मैं वंचित-सा रहता और इसी की मुझे सबसे अधिक

भूख रहती। यदि मैं इस वातावरण से निकल पाता तो फिर पाश्चात्य हो जाता, पर शांतिनिकेतन-प्रवास की शांति और आराम के बाद मेरे लिये पश्चिमी जीवन का दौड़-भाग और जल्दबाजी बहुत कुछ कठिन हो जाती।

गुरुदेव प्रथम श्रेणी के रचनात्मक प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं, और जब-जब मैं उनके साथ रहा हूँ, उन्होंने मुझे अपने जीवन झाँकने और कार्यों में हाथ बँटाने का पूरा-पूरा अवसर देने की कृपा की है। अपने दैनिक स्वभाव में वे बड़े सरल, स्नेही और कृपालु हैं। वे एक जन्मजात अध्यापक हैं। उनसे मैंने पश्चिम की तुलना में पूर्व की असाधारण क्षमता के सम्बन्ध में जो कुछ सीखा है, और किसी से नहीं सीखा। वे किसी भी रूप में पश्चिम के निंदक नहीं और न इससे घृणा ही करते हैं, बल्कि यह उनके लिये एक प्रेरक आकर्षण है। इसी प्रकार पश्चिम भी उनके प्रति आकर्षित हुआ है।

गुरुदेव का खयाल है कि पूर्व और पश्चिम को दो प्रकार की सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ पूरक रूप में एक दूसरे के लिये अपरिहार्य हैं। उन्हें भय है कि बिना पश्चिम की व्यावहारिक क्रियाशीलता के पूर्व को अप्रगतिशील हो जाने का खतरा है। इसी प्रकार उनका यह भी खयाल है कि पश्चिम को भी पूर्व के पुराने अनुभवों और शांत बुद्धि द्वारा सुपुष्ट बनाये बिना ध्वंस

और नाश की खाई में गिर जाने का खतरा है। लोक-कल्याण के लिये वे यह आवश्यक समझते हैं कि पूर्व और पश्चिम का मिलन हो। दोनों एक दूसरे से उसकी विशेषताएँ ग्रहण करें। दोनों की आध्यात्मिक क्षमता एक दूसरे के संपर्क से उन्नत की जाय। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम मिलकर एक-दूसरे का आदर करना सीखें।

व्यक्तिगत रूप से मैं अब तक अपने जीवन मे गुरुदेव के सिवा किसी भी ऐसे आदमी से नही मिला, जो मैत्री की आवश्यकताओं को पूरा करने, एक-दूसरे को समझने और आध्यात्मिक सहानुभूति प्रकट करने में उनके जैसा पूर्ण और सक्षम हो। उनकी उपस्थिति सदा मेरे लिये प्रोत्साहन और प्रेरणा का काम करती है। उनके साथ रहना और उनके रचनात्मक कार्य में एक हो जाना, एक ऐसा वरदान है जिसका शब्दों द्वारा वर्णन नही हो सकता। निश्चय ही यह मेरे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य रहा है। मैत्री-संबंधों में शायद बहुत कम लोग मेरे-जैसे सौभाग्यशाली रहे होंगे।

गुरुदेव की मैत्री के साथ ही मुझे जिस दूसरी वैयक्तिक मैत्री का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह है महात्मा गांधी की। उनकी अद्भुत आध्यात्मिक प्रतिभा से मैं एक दूसरी ही तरह प्रभावित हूँ। पर उनका चरित्र अपने ढंग का एक ही तथा गुरुदेव

के समान ही महान् और रचनात्मक है। हाँ, वह तपस्या-पूर्ण अधिक है। उसमें आधुनिक युग की अपेक्षा मध्य-युगीय धार्मिक आस्था की बू अधिक है। जहाँ गुरुदेव एकदम आधुनिक हैं, गांधीजी हमारे समय के असीसी के संत फ्रांसिस हैं।

—सी० एफ० एंड्रूज

दीनबंधु की विनम्रता

दीनबंधु के विशेष निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, एक-दो बार उन्हें सार्वजनिक सभाओं में अवश्य देखा था और तभी से उनके श्वेत-शुभ्र दाढ़ी-वाले देदीप्यमान चेहरे की सस्मित छवि मेरे अन्तःपट पर अंकित हो गई थी। पर निकट से उन्हे देखने की लालसा सदा बनी ही रहती थी।

कलकत्ता आने पर सहसा वह सौभाग्य मुझे अनायास एक दिन प्राप्त हो गया। दीनबंधु के निधन से ४-५ दिन पूर्व 'विशाल भारत'-संपादक पंडित श्रीरामजी शर्मा उन्हें देखने अँगरेजी फौजी अस्पताल जा रहे थे। दीनबंधु के दर्शन करने की इच्छा से उनके साथ मैं भी हो लिया।

जब हमलोग अस्पताल के ऊपरवाले वार्ड के बरामदे में दाखिल हुए तब सामने लगभग २०-२२ गज की दूरी पर, एक आरामकुर्सी पर बैठा, एक बूढ़ा मरीज निर्निमेष दृष्टि से सामने शून्य में देख रहा था। बरामदे में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर—अपने-अपने कमरे के आगे—अन्य कई मरीज भी बैठे थे। सभी

अँगरेज थे। आगे बढ़ते हुए मैंने शर्माजी से पूछा—"एंड्रूज साहब का कमरा किधर है ?"

"वह सामने कुर्सी पर एंड्रूज साहब ही तो बैठे हैं।"—शर्माजी ने अपनी छड़ी से इशारा करते हुए कहा।

बड़ी उत्सुकता से मैं, जिधर शर्माजी ने इशारा किया था, देखने लगा! इस दौरान में हमलोग एंड्रूज साहब के काफी पास आ चुके थे। मैंने देखा, एक दाढ़ी-मूँछ मुड़वाये दुर्बल-सा बूढ़ा—जिसके निस्तेज चेहरे का पीलापन उसकी दुर्बलता को स्पष्ट व्यक्त कर रहा था—हमारे पाँवों की आहट सुनकर, हमारी ओर देखकर, काँपते हुए धीरे से खड़ा हो गया। अब मेरी आँखों ने देखा और पहचाना कि यही व्यक्ति एंड्रूज हैं! उनके जिस लोकप्रिय एवं चिर परिचित चेहरे की रूप-रेखा मेरी आँखों में थी, आज बिना दाढ़ी-मूँछ के उन्हें देखकर—जैसे वह स्वयं असमंजस में पड़ गई हों—बड़ी कठिनाई से मैं उन्हें पहचान सका।

एंड्रूज से मेरा कोई पूर्व परिचय नहीं था। शर्माजी ने उनसे मेरा परिचय कराया और मैं उनके चरण छूऊँ, इससे पूर्व ही उन्होंने काँपते हुए हाथों से मुझे अपने सीने से लगा लिया। उनके मौन स्नेह एवं सजल आँखों को देखकर मेरा हृदय भर आया। मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि उनके

ये दर्शन और स्नेहालिंगन मेरे जीवन का एक ऐसा अध्याय होगा, जिसका अर्थ ही उसकी इति होगी!

एंड्रूज साहब का पहला ऑपरेशन हो चुका था और डाक्टरों ने तीन-चार दिन बाद दूसरा ऑपरेशन करना तय किया था। एंड्रूज साहब की बातों से मालूम हुआ कि दूसरे ऑपरेशन के बाद बचने की आशा उन्हें भी बहुत कम थी और इसी लिये बार-बार वे ईश्वर का स्मरण कर रहे थे। उन्हें अपनी बहन की विशेष रूप से बहुत याद आ रही थी और वे उसी समय पत्र लिखने की चर्चा करने लगे।

शर्माजी केमरा साथ ले गये थे। उन्होंने कहा—"अगर आप आज्ञा दें, तो आपका एक फोटो ले लूँ। उसकी एक कॉपी आपकी बहन को भी भेज दूँगा।"

"नहीं-नहीं"—मुसकुराते हुए क्षीण स्वर में दीनबंधु ने कहा—"इस रूप में मेरा फोटो लेकर क्या करोगे? अब मैं अपने-आपसे कितना भिन्न मालूम देता हूँ!"

× × ×

उसी दिन प्रातःकाल गाँधीजी का तार उनके पास आया था। जेब से निकालकर उन्होंने वह हमें दिखाया। हमने उसकी प्रतिलिपि कर लेने का तय किया और यह आश्वासन दिलाने पर कि उसे प्रकाशित नहीं किया जायगा, उन्होंने नकल करने के

लिये मेरी ओर बढ़ा दिया। नकल करने के लिये कागज न मेरे पास था और न आसपास ही कहीं दिखाई दिया। मुझे इधर-उधर देखते देखकर वे समझ गये और कुर्सी पर से उठकर अपने कमरे की ओर धीरे-धीरे बढ़ते हुए बोले—"ठहरो, तुम्हारे लिये मैं कागज ला देता हूँ!"

"नहीं, आप कष्ट न कीजिये, बैठिए; मैं स्वयं कागज लिये आता हूँ।"—मैंने खड़े होते हुए कहा।

पर मेरी बात सुनी-अनसुनी करके वे धीरे-धीरे कमरे में पहुँच गये और इधर-उधर कागज ढूँढ़ने लगे। इसी बीच में उनकी देख-रेख करनेवाली नर्स, जो किसी कार्यवश अस्पताल के दूसरे भाग में गई हुई थी, आ गई और एंड्रूज को कमरे में घूमता देखकर बच्चे की तरह उन्हें झिड़कते हुए बोली—"तुम बड़ी गड़बड़ी करते रहते हो चार्ली! मैं कितनी बार तुमको कह चुकी हूँ कि कमजोरी में इधर-उधर ज्यादा चला-फिरा न करो। कहीं गिर पड़े, तो मुश्किल होगी।"

"हाँ, तुम ठीक ही कहती हो!"—शिशु की-सी निष्कपट मुसकुराहट के साथ एंड्रूज ने कहा—"पर मुझे एक तख्ता कागज चाहिये—लिखने के लिये।"

नर्स ने एक पैड में से कागज निकाल दिया। उसे लेकर धीरे-धीरे बाहर आकर उन्होंने मुझे दिया। मैंने उसपर तार

की नकल कर ली। सजल नेत्रों से उन्होंने मुझसे तार की मूल कॉपी वापस लेते हुए कहा—"बापू और गुरुदेव का आशीर्वाद मुझे प्राप्त है; अब मैं शान्ति से मर सकूँगा।........ ईश्वर कितना अच्छा है!"

× × ×

हमलोगों के विदा होने से पहले उन्होंने एक डाक्टर का पता जानना चाहा। मैंने कहा कि टेलीफोन डाइरेक्टरी में शायद उनका पता और फोन नंबर मिल सकेगा। इससे पूर्व कि मैं उनसे पूछूँ कि टेलीफोन डाइरेक्टरी कहाँ मिलेगी, वे यह कहते हुए—"हाँ, हाँ, तुम ठीक कहते हो। चलो, उस कमरे में डाइरेक्टरी है"—बरामदे में सँभल-सँभलकर धीरे-धीरे पाँव बढ़ाते हुए आगे चल पड़े। मैंने कहा कि आप बीमार हैं, कमजोर भी काफी हैं, आप क्यों व्यर्थ यह कष्ट करते हैं। लाइये, डाइरेक्टरी मैं लिये आता हूँ।

एक सजल स्नेहसिक्त दृष्टि मेरी ओर डालकर आगे बढ़ते हुए वे बोले—"नहीं, नहीं! इसमें कष्ट किस बात का है। वह कमरा दूर ही कितना है।.........तुम कितने अच्छे और मेहरबान हो?"

उनकी इस विनम्रता और सहृदयता से मुझपर जैसे घड़ों पानी पड़ गया! हमलोग भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े।

डाइरेक्टरी में डाक्टर का पता आदि देखने के बाद जब मैं डाइरेक्टरी को वापस उसी कमरे में रखने के लिये जाने लगा, तब उसे मेरे हाथों से छीनने का यत्न करते हुए उन्होंने कहा—"नहीं, नहीं! तुम्हें कष्ट करने की जरूरत नहीं। लाओ इसे मैं ही रख आता हूँ।"

पर मैंने डाइरेक्टरी उन्हें नहीं दी और स्वयं जाकर पास के कमरे में उसे रख आया और लौटकर उनके पास आने पर मैंने सुना—"उनके ओठों से धीरे-धीरे स्वाभाविक प्रवाह से स्नेह और कृतज्ञता-भरे शब्द निकल रहे थे—"तुम कितने अच्छे और मेहरबान हो!"

उनके इन शब्दों को सुनकर मेरी क्षुद्रता जैसे पागल होकर अपनी मूक शिकायत कर रही थी—मैं 'अच्छा' और 'मेहरबान'! यह आप कह क्या रहे हैं? पर यही तो थी उनकी सरलता और महत्ता। इन्हीं छोटी-छोटी बातों से मैं उनके अथाह स्नेह-सौहार्द-सागर की थाह ले सका था।

विदा होने से पूर्व उन्होंने फिर हम दोनों को छाती से लगाया। आने का 'कष्ट' करने के लिये कृतज्ञता प्रकट की और दूसरे ऑपरेशन के बाद मिलने का अनुरोध किया। पर किसे मालूम था कि दीनबंधु की वह सरल मुद्रा फिर सजीव रूप में कभी देखने को नहीं मिलेगी और उसके अभाव में रोते रहने-

वाले हृदय को उन्हें जी-भर देखनेवाली आँखों से सदा मनुहार करनी पड़ेगी। आज उन्हें खोकर मालूम हो रहा है कि उन चंद मिनटों की बातचीत में मैंने जिस स्नेह, सरलता, विनम्रता एवं निष्कपटता का परिचय पाया, वह क्या इस दुनिया की चीज थी ?

—मोहनसिंह सेंगर

कलकत्ता, १९४१

श्रद्धांजलि

सिंधु पार सुन पड़ी तुम्हें कैसे जननी की पीर ?
खिंच आये तुम इधर अचानक भरे नयन में नीर !
पूर्व जन्म का था क्या कोई यह आत्मिक संबंध ?
हिले प्राण के तार, बँधे तुम, सजा स्नेह-अनुबंध !
(बने मसीहा, स्नेहमूर्त्ति तुम, किये नित्य उपचार
तन-मन-जीवन बने तुम्हारा दुर्बल का आधार।)
भरा तुम्हारे मानस में था, कितना करुणा-सिंधु
दीनानाथ बने न कभी तुम, बने दीन के बंधु !
आँखों में भारत की श्री, स्वर में भारत का गान
कर म भारत की सेवा, उर में भारत का ध्यान
रोम-रोम म रमा तुम्हारे, भारत का उत्थान
रहे विदेशी कब ? तुम तो थे भारत की सन्तान !
(अपना पथ निर्माण किया, पकड़ी न पुरानी लीक
न्याय नीति के लिये लड़े तुम बनकर के निर्भीक !)
भारत-माता के चरणों में ही लीं आँखें मूँद !
सोते तुम सुख की समाधि में, ढरकी यश की बूँद !
दीनबंधु एंड्रूज, बंधुवर कैसे गाये गान ?
लिखा रहेगा नित्य गगन के उडुगण में आख्यान
तप.पूत तुम. देवदूत तुम, शान्तिदूत अवतार !
जयति देश की स्वतन्त्रता के अचल शिला आधार !

—सोहनलाल द्विवेदी

सच्चे अर्थों में मनुष्य

दुनिया की अलग-अलग कौमों के बीच इस समय जो व्यवहार चल रहा है, खासकर पच्छिम की थोड़ी-सी कौमें जिस तरह दुनिया की बाकी तमाम कौमों को अपना गुलाम बनाकर रखना चाहती है और उनकी इस नापाक कोशिश की वजह से जो डाह उनमें आपस में पैदा हो गई है, उनके कारण कौमों के बीच का द्वेष आजकल हद तक पहुँचा हुआ है। यूरोप की कौमें यदि एशिया और अफ्रिका की कौमों को जिन्दा रखना चाहती हैं तो वह केवल इसलिये और इस दर्जे तक कि एशिया और अफ्रिका की कौमें उनके लिये धन पैदा कर सकें और उनके लिये गुलामों और बारबरदारी के पशुओं का-सा काम दे सकें। दूसरी ओर एशिया और अफ्रिकावालों के दिल उनकी तरफ से इतनी घृणा से भरे हुए हैं कि यदि उनका वश चले और वे अगर बेलगाम छोड़ दिये जायँ तो शायद सारे यूरोप में या तो आग लगा दें या उसे एक विशाल कब्रिस्तान बनाकर छोड़ें। जहाँ कहीं एक कौम राजनैतिक दृष्टि से दूसरे के अधीन है वहाँ यह परस्पर द्वेष और घृणा अपनी पराकाष्ठा को और भी अधिक पहुँच जाती है।

दुनिया-भर में पिछले दस हजार बरस के अन्दर घृणा का साम्राज्य कभी इतना विस्तृत, इतना व्यापक और इतना विशाल नहीं रहा जितना आजकल है। इस समय के अनैतिक और अप्राकृतिक सम्बन्ध की वजह से संसार के समस्त देशों के बीच मानव-प्रेम और मानव-सहानुभूति की और भी ज्यादा भयंकर कमी है। इसमें भी सन्देह नहीं कि यह कमी संसार की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में सबसे बड़ी रुकावट और उनके विकास के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है। इसलिये महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी महान् आत्माएँ अपने प्राणों की आहुति देकर भी इस अप्राकृतिक सम्बन्ध का अन्त करने और इस द्वेष की आग को शान्त करने के प्रयत्नों में लगी हुई हैं।

ऐसी हालत में वे इने-गिने अँगरेज या वे इने-गिने हिन्दुस्तानी धन्य हैं जो अपनी कौम के कौमी पक्षपात और उसकी कुवासनाओं से ऊपर उठकर निःस्वार्थ लगन के साथ दूसरी कौम की सेवा करने में अपना जीवन व्यतीत करें और इस तरह अपनेको जलाकर द्वेष की इस राख के ढेर में मानव-प्रेम की चिनगारियों को सुलगाये रखने की कोशिश करें। दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज इसी तरह की महान् आत्माओं में से एक थे। यही कारण है कि इस पृथ्वी पर उनके दो सबसे घनिष्ठ मित्र थे—रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी। यही कारण है

कि उन्होंने शान्ति-निकेतन को अपना घर बना रक्खा था। दीनबन्धु एंड्रूज सच्चे अर्थों में मनुष्य थे। वे देश, जाति, सम्प्रदाय आदि के संकीर्ण और घातक भेदों से बिलकुल ऊपर थे। भविष्य में जब कभी मनुष्य द्वेष की विनाशकता और प्रेम के मूल्य को समझेगा और जब कभी उसकी आत्मा इन अन्धकारमय सदियों की निद्रा से जागेगी; दीनबन्धु एंड्रूज का नाम इंगलिस्तान और भारत, यूरोप और एशिया, सारे संसार के बड़े-से-बड़े उपकारकों में गिना जावेगा। आँखें फाड़-फाड़कर देखने पर भी इस समय उन जैसे आधे दर्जन व्यक्ति भारत या इंगलिस्तान में दिखलाई नहीं पड़ते।

सेवाग्राम
२०।२।४१

—सुन्दरलाल